में दिल्ली में घूम आया है। उसने हेमू के सामने दिल्ली का ऐसा सजीव वर्णन किया कि अगर निबंध लिखा जाय तो वह एक सुन्दर यात्रा-लेख बन जाय। कुतुबमीनार, लाल किला, राष्ट्रपति भवन, सचिवालय आदि का ऐसा सुन्दर खाका खींचा कि सब कुछ अपने वास्तविक रूप में सामने आ गया। और वह उस दिन का इन्तजार करने लगा, जब उसके पास पैसा भी होगा और वह दिल्ली की इस खूबसूरती तथा महानता को अपनी आँखों से देखेगा।

'पिताजी, क्या आप चालीस रुपए का प्रबध कर सकते हैं ?'

'क्यों, क्या काम है ? पिताजी ने गंभीर होकर हेमू की इस पहली और इतनी बड़ी माँग के विषय में जानकारी चाही।

'कुछ नहीं। मैं...' हेमू अपनी इस बेवकूफी पर खुद ही लज्जित हो गया और आगे कुछ भी नहीं कह सका।

पर एक लड़का साधारण-सी आमदनी वाले पिता से चालीस रुपए माँगे, इसका क्या मतलब। हेमू के पिता चिंता में पड़ गए।

हेमू को कबूल करना पड़ा कि वह दिल्ली घूमना चाहता है।

हेमू के पिता गरीब थे, पर पढ़े-लिखे थे। उन्हें इस माँग में कोई बेवकूफी नहीं दिखायी दी और न कोई आश्चर्य ही हुआ। सभी घूमते-फिरते हैं। फिर हेमू भी घूमना चाहता है तो इसमें क्या बुराई ? पर वे क्या कर सकते थे ? इतने रुपए थे कहाँ ?

'घूमना बुरा नहीं बेटा, घर की हालत तो तुम जानते ही हो—' कहते-कहते उनका मन दुखी हो गया। हेमू भी दुखी होकर रह गया।

किन्तु हेमू की घूमने की इच्छा फिर भी कम न हुई। बल्कि वह बढ़ती ही गई। जब वह देखता कि उसका साथी हरीश कलकत्ता घूम आया है या राकेश कश्मीर जाने वाला है तो वह दिल मसोसकर रह जाता। काश, आज उसके पास भी रुपए होते। उसके पिता भी अधिक कमाते होते।

समय हवा की गति से बढ़ता जा रहा था। देखते-देखते एक साल बीत गया। इसी बीच हेमू के कितने साथी घूम आए। लेकिन हेमू जहाँ का तहाँ। अब घूमने की उसकी इच्छा कुछ वुरा रूप भी लेने लगी।

गर्मी की छुट्टी हो गयी और वह अपने साथी प्रवीण को रेल पर बैठाकर आया था। प्रवीण अपने परिवार के साथ कश्मीर गया था। आज हेमू के मन में मंथन-सा हो रहा था।

शाम का समय था। माँ और बड़ी बहन रसोई में थीं। बच्चे बाहर खेल रहे थे। वह सीधा पिताजी के कमरे में गया। कमरे में उसके पिताजी का कुरता टँगा था। उस पर जैसे कुछ भूत-सा सवार था। जेब में हाथ डाल दिया।

'चालीस रुपए।' हेमू उछल पड़ा, जैसे वे रुपए उसी के लिए लाए गए हों। फिर वह सोचने लगा—'ये रुपए पिताजी न जाने किस काम के लिए लाए होंगे। मैं इनको ले लूँगा तो शायद उनका बहुत बड़ा नुकसान होगा। वे किसी को…' उसके सामने मेहनत से मुरझाया और सदा गंभीर रहने वाला पिताजी का चेहरा आ गया—उदास, भारी।

पर अब उसका दिमाग बिलकुल ही बदल चुका था। अब वह हाथ आए रुपयों को जाने न देना चाहता था। क्षण भर में ही उसने कार्यक्रम वना लिया। कल बिना सूचना दिए दिल्ली चला जाएगा।

दूसरा दिन।

पिताजी आज बहुत दुखी थे। उनका चेहरा पत्थर की तरह गंभीर हो रहा था। जब कोई भारी दुख या समस्या आती थी, तभी उनके चेहरे पर यह भाव प्रकट होता था। और कम आमदनी के कारण कभी पढ़ाई के खर्च को लेकर तो कभी मकान के

आठ-आठ महीने से रुके हुए किराए को लेकर यह स्थिति पैदा हो जाती थी। सब इस स्थिति से परिचित थे। सब जान रहे थे कि कोई बात है। पर पिताजी ने किसी को कोई बात न बतायी। वें भीतर ही भीतर घुटते रहे।

घर में कोई बात समझे या न समझे, लेकिन हेमू सब समझता था। और रहस्य प्रकट न हो जाय, इसलिये दिखावे की सहानुभूति के साथ उसने पिताजी से बात कर लेना ठीक समझा। किंतु एकदम दिखावे की ही सहानुभूति थी, यह भी कहना ठीक न होगा। पिताजी के अमित स्नेह में पला हेमू इतना कठोर नहीं हो गया था कि इस घटना से दुखी न हो। इतना जरूर है कि उसमें गलती स्वीकार करने का नैतिक बल न था।

'पिताजी, परेशान क्यों हैं? अनजान-सा बनते हुए हेमू ने पूछा।

'कुछ नहीं बेटा', वे चाहते हुए भी नहीं बता सके।

'कुछ तो।'

उनका गला भर आया—'तेरी कुछ समय से घूमने की इच्छा थी। तूने कहा भी था कि चालीस रुपए हों तो दिल्ली घूम आएँ। इन्तजाम न होते देख चालीस रुपए उधार ले आया था तेरे लिए। लेकिन रास्ते में किसी ने·······।

आगे वे कुछ कह न सके।

हेमू जैसे आसमान से धरती पर गिरा। उसके पैरों के नीचे से जमीन खिसकने लगी। उसे जैसे चक्कर आने लगा। पश्चात्ताप से भीतर ही भीतर वह पीड़ित हो उठा।

''वे रुपए तो मैंने ही···' उसके रुँधे कंठ से एकाएक निकल पड़ा और उसकी आँखें आँसुओं का वेग सम्हाल न पाने के कारण गंगा-जमुना बन गयीं।

पिताजी ने उसे गले लगा लिया।

तब तक माँ और बड़ी बहनें भी आ चुकी थीं। सबकी आँखों में गंगा-जमुना लहरा रही थीं—खुशी की गंगा-जमुना।

इलाज

डाक्टर हरिमोहन वर्मा शहर के प्रसिद्ध डाक्टर हैं। सुबह आठ बजे से दस बजे तक एक प्राइवेट अस्पताल में काम करते हैं और ग्यारह बजे से दो बजे तक अपने निजी दवाखाने में बैठते हैं। शाम को वे सात से नौ बजे तक फिर वहाँ रहते हैं।

मरीज दवाखाने में दस बजे से ही आने लगते हैं और दो बजे तक भरे रहते हैं। डाक्टर साहब को साँस लेने तक की फुर्सत नहीं मिलती। शाम को सात से नौ बजे के बीच भी काफी मरीज आते हैं।

शहर में डाक्टर वर्मा को सब जानते हैं, रईस लोग तो उन्हीं से इलाज कराते हैं। बल्कि उन्हें कोई रईसों का डाक्टर कहे तो गलत न होगा।

डाक्टर साहब की कोठी आलीशान है। मैं उनके लड़के को घर पर पढ़ाता हूँ। इसलिए यह कोठी मेरी देखी हुई है। डाक्टर

साहब के घर में हर चीज़ क़ीमती है। मेज जैसी साधारण चीज़ से लेकर कार जैसी बड़ी चीज़ तक।

मैं तो एक मामूली मास्टर हूँ। एम० ए०, बी० एड० पास हूँ और हाई स्कूल में पढ़ाता हूँ। इसके अलावा दो ट्यूशन हैं—एक यही डाक्टर साहब के घर का, एक और। इतना बहुत है। मैं संतुष्ट हूँ। डाक्टर साहब की कीमती कोठी और कीमती सामान से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। मेरे घर का आँगन कच्चा है। उसमें घास उग आती है। अच्छी लगती है। छप्पर के नीचे वैठकर मैं बरसात देखता हूँ। मुझे बरसात देखना बहुत ही अच्छा लगता है। अगर डाक्टर साहब के लड़के को पढ़ाना न हा, तो मैं उनके घर कभी न जाऊँ।

पर डाक्टर साहब का लड़का हेमंत मुझे पसंद है। अभिमान तो उसे छू भी नहीं गया है। वह मेहनती है, पढ़ने में अच्छा है और अध्यापकों का आदर करता है।

डाक्टर वर्मा के लड़के को मैं पढ़ाता हूँ, यह बात मेरे पड़ोसी भी जानते हैं। एक बार मेरे पड़ोस की एक स्त्री का बच्चा बीमार पड़ा। सब उन्हें बुआ जी कहते हैं। बुआ जी के पति को दमे का रोग है, इससे वे कोई काम नहीं करते। बुआ जी ही दिन-रात सिलाई की मशीन चलाकर जैसे-तैसे घर चलाती हैं।

अपनी हैसियत के अनुसार पहले बुआ जी ने आयुर्वेद का इलाज किया, फिर होम्योपैथी का। ये दवाएँ सस्ती जो होती हैं। पर लाभ कुछ भी नहीं हुआ। तब किसी ने मेरा जिक्र करके उनसे कहा—"मास्टर जी से क्यों नहीं कहतीं। वे डाक्टर साहब से कह देंगे तो ठीक-ठाक इलाज हो जायेगा।"

बुआ जी दूसरे ही दिन मेरे यहाँ आयीं। सारी बात उन्होंने मुझे बतायी और डाक्टर साहब के यहाँ चलने को कहा, मुझे पढ़ाने जाना ही था। बुआ जी को भी साथ लेता गया। मन में थोड़ा

डरते हुए मैंने उन्हें बुआ जी की हालत बतायी और कहा—"अगर 'आप इनके बच्चे का इलाज कर दें तो ये जन्मभर आपका एहसान मानेंगी। बड़ी गरीब हैं।"

"हूँ" डाक्टर साहब ने कुछ रूखी-सी आवाज में कहा, जैसे उन्हें मेरी बात पर विश्वास न हुआ हो या जैसे किसी के एहसान मानने का उनके लिए कोई मतलब ही न हो। गंभीर होते हुए वे बोले, मास्टर जी, आपके साथ ये आयी हैं, इसलिए घर पर मैंने इनके बच्चे को देख लिया, नहीं तो मरीजों को मैं दवाखाने में ही देखता हूँ और मेरी फीस पंद्रह रुपये है। आप तो सब जानते ही हैं। फिर इस समय मैं खाना खाने जा रहा था।"

"जी," डाक्टर साहब की बात सुनकर मैं संकोच में पड़ गया। कुछ खीझ भी हुई कि इतने बड़े डाक्टर हैं, तब भी ऐसी बात कह रहे हैं। और फिर यह मामला भी एक गरीब स्त्री का है। मैंने कहा—"यह तो आपकी मेहरबानी है। आपने मेरे लिए बहुत तकलीफ उठायी।"

"खैर, यह सब छोड़िए। यह बताइए कि ये तीन सौ रुपए खर्च कर सकेंगी? लड़के का रोग बुरा है। पर इलाज करने से ठीक हो जायेगा। करीब दो महीने इलाज चलेगा।"

डाक्टर साहब की बात सुनकर बुआ जी ही बोलीं, "सरकार, डेढ़ सौ रुपये तो मेरे पास हैं। अगर इतने में ही काम बन जाये···· ····कहें तो ये रुपये मैं पहले ही आपको दे दूँ।"

"नहीं, तीन सौ रुपये से कम में कुछ नहीं होगा।" डाक्टर साहब थोड़ा-सा रूखे होकर फिर बोले, "अच्छा, तो आप जाइए। मुझे खाने को देर हो रही है। मास्टर जी आप पढ़ाइए।"

डाक्टर साहब यह कहकर तुरंत उठ गये। मैं मुँह देखता रह गया। बुआ जी भी खड़ी हुई और बच्चे को लेकर चल दीं। वे डाक्टर साहब के व्यवहार से डर गयी थीं।

जिस समय ये बातें हो रही थीं, हेमंत भी वहीं था। जब बुआ जी चली गयीं, तो हेमंत के साथ मैं उसके कमरे में आया और उसे पढ़ाने लगा। पर मुझे लगा कि हेमंत भी इस बात से दुखी है। उसने पूछा, "मास्टर साहब, क्या ये बुआ जी बड़ी गरीब हैं ?"

"हाँ भाई, इसी से तो मेरे साथ आयी थीं।"

"पर पिता जी ने उनके लड़के का इलाज नहीं किया।"

"छोड़ो यह सब। तुम पढ़ो।" मैंने उसकी बात काटते हुए कहा।

हेमंत का मन उखड़ा-उखड़ा-सा था। वह पढ़ने लगा। फिर भी वह पूरे समय तक नहीं पढ़ा। जल्दी ही मुझे उसे छोड़ देना पड़ा।

घर आया। बुआ जी के यहाँ जाकर मैंने उन्हें सांत्वना दी—"मुन्ना ठीक हो जायेगा। आप घबरायें नहीं। डाक्टर साहब ने नहीं देखा तो क्या हुआ।"

बुआ जी आह भरकर रह गयीं। मैं भी उदास होकर घर चला आया।

अगले दिन सुबह पाँच भी नहीं बजे थे कि किसी ने दरवाजा खटखटाया। मैंने आँखें मलते हुए जैसे ही दरवाजा खोला, डाक्टर साहब के नौकर ने मुझे नमस्कार किया और बोला—"आपको तुरंत डाक्टर साहब ने बुलाया है। अभी चलिए।"

"क्या हुआ ? मैंने एकाएक पूछा, क्योंकि मैं इतने तड़के बुलाये जाने का कुछ मतलब नहीं समझ पाया था।

"मैं नहीं जानता," नौकर ने कहा, "डाक्टर साहब कुछ घबराये हुए हैं। बस, आप मेरे साथ ही चलिए।"

"अच्छा, मैं अभी आया। जरा मुँह धोलूँ।" जल्दी-जल्दी तैयार होकर मैं नौकर के साथ चल पड़ा। बार-बार हेमंत की ही

बात मन में आती थी। मुझे डर लग रहा था कि न जाने क्या कारण है, जो मुझे इतने सबेरे बुलाया है।

मैं कोठी पर पहुँचकर सीधा डाक्टर साहब के कमरे में गया। हेमंत अभी सो ही रहा था। उसकी माँ सिरहाने बैठी थीं।

"आइए मास्टर जी," डाक्टर साहब ने बड़े आदर से कहा। मैं कुर्सी पर बैठ गया। उन्होंने कहा, "कल आप जिन बुआ जी को लाये थे, उनको साढ़े दस बजे यहीं ले आइए। मैं उनके बच्चे का इलाज मुफ्त करूँगा।"

मैं आश्चर्य में पड़ गया। आखिर ऐसा क्या हो गया, जो डाक्टर साहब इस तरह डरे-डरे से बोल रहे हैं! मैंने पूछा—"लेकिन डाक्टर साहब, बात क्या है? आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? और डेढ़ सौ रुपये तो बुआ जी खर्च कर ही देंगी।"

"नहीं, वे डेढ़ सौ रुपये अपने पास रखें, वे बड़ी गरीब हैं। मैं उन्हें मुफ्त में दवा दूँगा।"

"लेकिन क्यों?" मैंने फिर पूछा।

तब उन्होंने विस्तार से बताया—"मास्टर जी, लगता है, कल मुझसे गलती हो गयी। रात में जब मैं सो रहा था, तो एकाएक हेमंत को चीखते हुए सुनकर मेरी नींद खुल गयी, वह बकझक कर रहा था, 'बचाओ-बचाओ, मुझे मत मारो। बुआ जी के लड़के को बचाओ। पिता जी, उसका इलाज करो। उसे बचा लो।'

डाक्टर साहब फिर बोले, "मैंने हेमंत को जगाया और इसके बारे में पूछा, तो वह बोला, 'मुझे कुछ नहीं मालूम मैं क्या कह रहा था। मैं कोई खराब सपना जरूर देख रहा था। पर याद नहीं रहा।' मैं डर गया। उसी समय मैंने बुआ जी के लड़के का इलाज करने का निश्चय कर लिया। आप साढ़े दस बजे बुआ जी को जरूर ले आइएगा।" डाक्टर साहब की बात सुनकर मेरी खुशी की सीमा न रही।

डाक्टर वर्मा ने बुआ जी के लड़के का इलाज किया। अस्पताल से और अपने पास से भी अच्छी से अच्छी दवाएँ दीं। मुन्ना धीरे-धीरे ठीक हो गया। बुआ जी ने डेढ़ सौ रुपये देने चाहे, पर उन्होंने लिये नहीं। बुआ जी ने उनका बड़ा एहसान माना और उन्हें खूब आशीर्वाद दिया।

मैं हेमंत को पढ़ाता रहा। वह हमेशा की तरह कायदे से पढ़ता रहा। कभी-कभी वह बुआ जी के लड़के का हाल भी पूछता और मैं बता देता।

बुआ जी के लड़के के ठीक हो जाने के करीब पंद्रह दिन के बाद एक दिन हेमंत बोला—"मास्टर जी, आपको एक बात बताऊँ।"

"बताओ!" हेमंत को गंभीर देखकर मुझे लगा कि कोई खास बात है।

"आप किसी से कहिएगा तो नहीं?"

"नहीं, मैं किसी से नहीं कहूँगा। तुम निश्चिंत रहो।"

मेरे विश्वास दिलाने पर वह धीरे-धीरे बोला—"उस दिन पिता जी ने जो आपको सवेरे-सवेरे बुलाया था, वही बात बता रहा हूँ। रात में पिता जी मुझे देखकर डर गये थे। उन्होंने समझा मुझे कुछ हो गया है। पर असली बात यह थी कि मुझे कुछ भी नहीं हुआ था। पिता जी ने जब तीन सौ रुपये की बात कहकर बुआ जी के लड़के का इलाज नहीं किया और खाना खाने चले गये, तो मुझे ठीक नहीं लगा। मैंने इसका उपाय सोचा और तरकीब बस वही थी, जो आप जानते हैं। मेरी योजना सफल रही और बुआ जी का लड़का ठीक हो गया।"

मैंने हेमंत को शाबाशी दी इतना अच्छा काम करने के लिए।

और अब डाक्टर साहब भी अक्सर बुआ जी और उनके लड़के का हाल-चाल पूछ लेते हैं। इधर बुआ जी तो हमेशा के लिए

डाक्टर साहब की एहसानमंद हो गयी हैं। अक्सर कहा करती हैं, "डाक्टर बाबू बड़े दयावान हैं। वे खूब फलें-फूलें। उन्होंने मेरे लड़के को नयी जिंदगी दे-दी।"

पर असली रहस्य तो मैं जानता हूँ या हेमंत। और हेमंत ने तो बहुत बड़ा काम किया। उसने सिर्फ बच्चे का ही नहीं, अपने पिता जी का भी इलाज किया। उस घटना के बाद से डाक्टर साहब के व्यवहार में अंतर आ गया है। अब उन्हें हमेशा मरीजों के साथ दया और ममता दिखाते हुए देखा जा सकता है।

रेल की सीटी

'ताऊजी, अबका जब आप आएँगे, तब या तो आप मुझे जंगल में पाएँगे या जेल में !' सुरेश ने अपने ताऊजी को तपाक से यह निर्णय सुना दिया, जैसे जंगल या जेल में रहना नानी के घर रहना है।

'नहीं बेटा, यह काम ठीक नहीं है,' सुरेश के ताऊजी बोले। 'बागी (डाकू) बनकर जंगल में रहना बुरी बात है। बागी कोई अच्छा आदमी तो होता नहीं। लूटपाट, हत्या ! यही सब तो बागी करते हैं। तुम तो खुद ही देख चुके हो—अपने गाँव का रमदसा चार बरस से बागी है। चार बरस में वह दस हत्याएँ कर चुका है और कई घरों को भी लूट चुका है। पर पुलिस ने भी उसकी नींद हराम कर दी है जिस दिन चंगुल में आया, उस दिन या तो वह मारा ही जाएगा या लाल हवेली जाएगा।'

'तो मैं भी लाल हवेली चला जाऊँगा।'

'बेटा, ऐसी बातें नहीं करते। लाल हवेली कोई अच्छी जगह

नहीं है। क्या जेली और कैदी को कहीं आदर मिलता है ? समाज उसकी निंदा करता है। हर आदमी उसे भला-बुरा कहता है और समाज में ऐसे आदमी का कोई मुँह भी नहीं देखना चाहता।'

'लेकिन ताऊजी, क्या मुझे भी वही करना चाहिए, जो समाज चाहे !'

'भैया, आदर तो इसी में मिलता है। समाज को बिगाड़ना या किसी को तकलीफ पहुँचाना तो अच्छी बात नहीं है। पहले के लोग इसी को पाप कहते थे। तुम चाहे इसे पाप मत कहो, पर बुरा तो काम बुरा ही है, चाहे कोई उसे पाप कहे या न कहे।'

'ताऊजी, आप तो मुझे ही उपदेश दे रहे हैं। उनको क्यों नहीं उपदेश देते, उन मोतीराम पुरोहित को। अन्याय हम लोगों ने किया या उन्होंने ! मेरे चाचा तो उनके यहाँ नौकर थे। उनका कर्ज पटाने को ही तो वे नौकर हुए थे। कर्ज पट जाता तो चाचा को खेत मिल जाता। अब तक खेत उनके यहाँ गिरवी था। लेकिन अब पुरोहित जी ने खेत तो दबा ही लिया और चाचा को नौकरी से भी निकाल दिया। इतने से भी जी नहीं भरा तो चाचा को पिटवा भी दिया। ताऊजी, हम गरीब हैं तो क्या इतने नीच भी हैं कि कोई हमारा खेत भी छीन ले और मारे भी। अब तो मैं पुरोहित जी से बदला.........'

सुरेश के ताऊजी दूर वाराणसी में अध्यापन करते हैं। जून की छुट्टी में अपने घर जाते हैं। उनका घर आगरा जिले के उस गाँव में है, जो जमुना के किनारे है। एक ओर जमुना है, एक ओर जंगल। इसी क्षेत्र में बागियों का प्रकोप है। प्रसिद्ध बागी मानसिंह इसी गाँव के पास के थे।

इस गाँव के पास वाले जंगल इतने भयानक हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। बड़ी-बड़ी गुफाएँ जैसी बनी हैं इन जंगलों में, जहाँ बागी छिप जाते हैं, और पुलिस से बच जाते हैं। इनका काम करने का

ढंग है आदमियों को और खास तौर से लड़कों को पकड़ना और फिर कई-कई हजार रुपए फिरौती के वसूल लेना। इस क्षेत्र में लोग छोटी-छोटी बातों पर फरार होते हैं और छोटी-छोटी बातों पर ही हत्या भी कर सकते हैं। बड़े गुस्सैल हैं ये लोग।

सुरेश के ताऊजी समझ गए कि मामला टेढ़ा है। सुरेश काफी दूर तक वातावरण के असर में आ चुका है और अब इसे ठीक रास्ते पर लाने में समय तो लगेगा ही और कठिनाई भी होगी।

पर ताऊजी अध्यापक थे। वे ऐसे अध्यापक न थे जो कक्षा में आकर सिर्फ किताबें पढ़ाते हैं। वे अध्यापक थे, साथ ही जिन छात्रों को पढ़ाते थे, उनके प्रति उनका पिता जैसा स्नेह भी रहता था। छात्र भी उन्हें पिता के समान मानते थे। खाली समय में वे छात्रों के सुख-दुख की बातें सुनते और उनकी मदद भी करते थे। कोई छात्र समय पर फीस नहीं ला पाया, वे उसकी फीस जमा कर देते, किसी को नंगे पाँव देखते, उसे चप्पल पहनने को पैसे दे देते। बीमार छात्र की तीमारदारी तो वे बड़ी अच्छी तरह करते थे।

ऐसे ताऊ जी को सुरेश की चिंता होनी स्वाभाविक थी। वे सुरेश के वास्तविक ताऊजी तो न थे—सिर्फ पड़ोस का नाता था; जाति से भी वे ब्राह्मण थे और सुरेश धोबी, फिर भी सुरेश ने उनको अपना वास्तविक ताऊजी मान लिया था और ताऊजी ने सुरेश को अपना वास्तविक भतीजा। इसी से जून की छुट्टी भर सुरेश ताऊजी के पास रहता। दोनों को साथ रहना अच्छा लगता।

सुरेश अभी नौवाँ दर्जा उत्तीर्ण होकर दसवें में गया था। खेतों पर बने घर में ताऊजी अपने परिवार के साथ रहते थे। सुरेश भी परिवार का अंग बन जाता। काम कुछ था नहीं। दिन भर छुट्टी। ताऊजी ने सुरेश से एक दिन कहा—'कल से मैं तुमको पढ़ाऊंगा। छुट्टी भर पढ़ो। तुम्हारी हिंदी और अंग्रेजी पक्की हो जाएगी। मेरा समय भी ठीक से गुजरेगा।'

'अच्छा।'

दूसरे दिन सुरेश अपनी किताब कापियाँ घर से ले आया।

जब सुरेश पढ़ने बैठा और उसने अपनी पेटी खोली तो ताऊजी चौंक पड़े। पेटी के एक कोने में पाँच कारतूस थे।

'ये क्या है ?'

'कारतूस !'

'क्यों ? किसके हैं ?'

'बंदूक के हैं !'

'तो तुम बंदूक चलाना भी सीख गए ?'

'सुरेश को कबूल करना पड़ा कि वह बंदूक चलाना भी जानता है। घर में बंदूक है। उसी के ये कारतूस हैं, जो भूल से मेरी पेटी में पड़े चले आए।

'बहुत खराब बात है। किताब और कापियों के साथ कारतूस। ताऊजी के दिमाग में सुरेश की बातें गूँज गईं—'ताऊजी, अबकी जब आप आएँगे.........'

'सुरेश, ये कारतूस तुम शाम को अपने पिताजी को दे आना। किताब, कापियाँ और यह पेटी अलग चीजें हैं और कारतूस अलग। एक से विद्या आती है और कारतूसों से तो जान ली जाती है। मैं तो चाहता हूँ कि तुम पढ़ो, जून भर मैं तुमसे मेहनत लूँ और तुम मेहनत करो।'

'अच्छा ताऊजी, शाम को जरूर दे आऊँगा' सुरेश ने अपनी गलती पर पश्चात्ताप करते हुए कहा।

पढ़ाई आरंभ हुई। एक दिन, दो दिन, तीन दिन—दिन पर दिन बीतने लगे। पूरा दिन खाली था ही। दस दिन में हिंदी के चार पाठ और अंग्रेजी के तीन पाठ खतम हो गए। देखा-देखी और भी तीन चार लड़के आ गए। एक प्रकार से कक्षा जैसी लगने लगी। इन सबको भी पढ़ने में आनन्द आने लगा। शाम को गुरु और

शिष्य—ताऊजी और सुरेश, दो-दो, तीन-तीन मील घूमने जाते।

देखते-देखते बीस जून आ गई। पढ़ाई काफी आगे बढ़ गई थी। सुरेश को पढ़ाई में काफी आनन्द आ रहा था। अगर उसके स्कूल में ऐसी ही पढ़ाई हो, तो उसके विषय कितने पक्के हो जायँ। गणित में वह अपनी योग्यता से अच्छा था, पर अब अंग्रेजी और हिंदी का भी उसको अच्छा अभ्यास हो गया था।

दो-तीन मील टहलने में गुरु और शिष्य को दो-ढाई घंटे लगते। आपस में अनेक बातें होतीं। सुरेश शिष्य ही न था, भतीजा भी था—बल्कि शिष्य से बढ़कर भतीजा था। इसीलिए घरेलू ढंग से बात करता था।

'सुरेश!' एक दिन ताऊजी ने कहा—'अब तो मेरे जाने का दिन आ रहा है। छुट्टियाँ खतम होने को हैं।'

सुरेश जैसे चौंक पड़ा। उसे अहसास ही न था कि छुट्टियाँ इतनी जल्दी खतम हो जायँगी और उसके प्यारे ताऊजी चले जाएँगे। वह रो पड़ा।

'अरे, तुम रो रहे हो। रोने की क्या बात है! अगले साल जून में फिर आऊँगा।'

काफी सांत्वना देने पर सुरेश चुप हो गया।

'एक बात बताओ' ताऊजी फिर बोले। 'तुम पूरे साल मेहनत से पढ़ोगे न?'

'हाँ ताऊजी, मेहनत से पढ़ूँगा। अबकी मैं आपको प्रथम श्रेणी लाकर दिखाऊँगा।'

'शाबाश। तुम खूब मेहनत से पढ़ो। जिस तरह तुमने जून में मेहनत की है, वैसे ही मेहनत करते रहना।' कुछ रुक कर ताऊ-जी ने फिर कहा—'सुरेश तुम एक दिन कह रहे थे कि अगले साल जब मैं आऊँगा, तब या तो तुम जंगल में रहोगे या जेल में? यह तो अच्छी बात नहीं है। ऐसा तो नहीं करोगे न?'

'नहीं ताऊजी, मैं ऐसा कुछ भी नहीं करूँगा। कसम खाकर कहता हूँ कि मैं बंदूक की तरफ देखूँगा भी नहीं। मैंने तो प्रथम श्रेणी में आने का निश्चय किया है। अब मैं सिर्फ पढ़ूँगा।

'बहुत ठीक। यही मैं चाहता हूँ। अपने इस क्षेत्र में लोग कुछ बिगड़ गये हैं। अब देखा देखी लड़के भी बिगड़ रहे हैं। मुझे तो बड़ा दुख होता है। पढ़ाई-लिखाई से ध्यान हटाकर बंदूक की ओर ध्यान ले जाना ठीक नहीं है। पर किसी को समझाया कैसे जाय ?'

'मैं समझाऊँगा' सुरेश ने संकल्प-सा प्रकट करते हुए कहा। 'मैं अपने साथियों को बताऊँगा कि वे गलत रास्ते पर न चलें, सही रास्ते पर चलें और पढ़ें-लिखें।'

ताऊजी के मन का एक बड़ा भारी बोझ उतर गया था। उनके मन में एक योजना थी, जो आज पूरी हो गई थी। वे अपने उद्देश्य में सफल हो गए थे।

छुट्टी बीती। स्टेशन पर ताऊजी को पहुँचाने सुरेश के पिता, सुरेश और दो-एक और लोग आए। गाड़ी आने में अभी समय था। प्लेटफार्म पर सभी बैठे थे। सुरेश की आँखों के आँसू बार-बार समझाने पर भी नहीं थम रहे थे।

गाड़ी आई और तीन मिनट रुकी। जब उसने सीटी दी तो सारा प्लेटफार्म जैसे साँय-साँय कर रहा था। ताऊजी डिब्बे की खिड़की से झाँक रहे थे। सुरेश पत्थर की मूर्ति बना खड़ा था। सब हाथ हिला रहे थे। और सुरेश! वह सिर्फ जाती हुई गाड़ी को देखे जा रहा था, जो सीटी देती हुई तेजी से चली जा रही थी।

चक्कर

रामसिंह से मेरा परिचय नया नहीं है, बहुत पुराना है। जब मैं हिंदी पुस्तक समिति में संपादक था, तब रामसिंह सहायक संपादक थे। पर संपादक और सहायक संपादक तो नाम के थे, वास्तव में हम दोनों भाई-भाई की तरह थे—मैं बड़ा भाई, रामसिंह छोटा भाई। करीब छह-सात बरस तक हम लोग एक ही संस्था में रहे और इस रिश्ते को निभाते रहे। जिम्मेदारी वाला काम होते हुए भी हम लोगों में कभी कोई मतभेद नहीं हुआ।

रामसिंह का स्वभाव बड़ा हँसमुख था। हमेशा हँसता रहता। मैं जरा स्वभाव से गंभीर हूँ, हमेशा हँसी नहीं आती। जब दफ्तर में दो-तीन घंटे तक मैं काम ही करता रहता और गंभीर बना रहता तो रामसिंह ऊब जाता। वह कोई समस्या लेकर आ जाता और 'माई बास', 'मेरे मालिक' या 'सर' कहकर हँसा देता। मैं इन शब्दों को पसंद नहीं करता था, इसलिये इन शब्दों को सुनकर मुस्करा देता।

मैं मुस्कराता और रामसिंह खिलखिलाकर हँसता। तब मैं भी बिना हँसे न रह पाता। रामसिंह की हँसी ऐसी थी कि चपरासी भी देखकर जोर-जोर से हँसने लगता। इस हँसी की खुशी में वह तीन कप चाय का आर्डर भी दे आता—एक कप मेरे लिये, एक रामसिंह के लिये और एक अपने लिये।

हम तीनों आदमी साथ-साथ ही चाय पीते। चपरासी भी भाई की ही तरह रहता था। तीनों आदमी साथ-साथ ही जलपान भी करते थे—चपरासी कभी अपना जलपान करता, कभी न लाने पर हम लोगों के जलपान में ही हिस्सा बँटाता।

इस तरह छह-सात बरस का बड़ा सुखद समय गुजरा। रामसिंह और मैं, दोनों एक दूसरे के मित्र, भाई—सब कुछ बन कर रहे।

हिंदी पुस्तक समिति में रामसिंह और मैं जिस काम में लगे हुए थे, संस्था ने उसके लिये धन देना बंद कर दिया। तब हम दोनों आदमियों की नौकरी एक साथ खतम हो गई।

दोनों नौकरी की चिंता में इधर-उधर भटकने लगे। कुछ दिन रामसिंह दिखाई नहीं दिया। फिर चार पाँच महीने बाद भेंट हुई तो उसने बताया वह घर पर ही है, अभी नौकरी नहीं लगी।

नौकरी मेरी भी कोई कायदे की नहीं लगी थी, पर छिटपुट काम मिलते रहे। बच्चों की एक पत्रिका 'चमचम' का कुछ दिन तक संपादन किया। 'चमचम' बड़ी सुन्दर पत्रिका थी, जिसमें बच्चों के लिये कविताएँ, कहानियाँ, नाटक, धारावाहिक उपन्यास और जानकारी से भरे लेख निकलते थे।

'चमचम' के लिये कविताएँ भी अक्सर मैं ही लिखता था 'चमचम' की यह कविता बच्चों ने बहुत पसंद की थी—

एक हवाई अड्डा है, जिसको कहते हैं दमदम
एक बार पानी बरसा, झम झमाझम झम झम झम
एक बार लड़के आए, खिलवाड़ी करते ऊधम

एक बार लड्डू खाए, खाने होंगे सौ से कम
एक बार लाला दौड़े, तोंद हिलाते धम धम धम
एक बार काका बिगड़े, बोले—'आती नहीं शरम'
एक बार चरखी छूटी, फुर फुर फुरं, फिर छूटे बम
एक बार बरफी खाई, एक बार खाई चमचम
एक बार अब खाएँगे, बालूशाही, खीरकदम
एक बार रसगुल्ले भी, खाएँगे जी भरकर हम ।

पर इस पत्रिका में भी मैं दो-ढाई बरस ही रहा । फिर एक अखबार में काम किया । कुछ दिन बैठकर ही लिखता रहा और तब एक रास्ता खुला—मुझे अध्यापन का स्थायी काम मिल गया।

मुझे अध्यापन करते अभी दो ही महीने हुए थे कि एक दिन क्लास के सामने मैदान में ही रामसिंह से भेंट हो गई । बड़े प्रेम से उसने नमस्ते की । मुझे 'बास' और 'सर' कहकर हँसाया भी । फिर उसने बताया कि वह यहीं पुस्तकालय में काम कर रहा है । उसे इस बात की बड़ी खुशी थी कि मैं भी उसी संस्था में पढ़ाने लगा हूँ ।

एक जिम्मेदार आदमी ज्यादा गप्पें नहीं लड़ाता । वह दस मिनट बातें करके चला गया ।

दस दिन बाद फिर उससे भेंट हुई । वह अपने एक दोस्त से बातें कर रहा था । मैंने हँसकर उसकी ओर देखा, इस आशा से कि वह ललककर मुझे नमस्ते करेगा और मेरे पास आ जाएगा । पर वह चुपचाप मेरी ओर देखता रहा, बोला भी नहीं ।

मुझे यह व्यवहार बड़ा अजीब लगा, फिर भी उसको नमस्ते करते न देखकर मैंने ही उसको नमस्ते कर दिया । मेरे नमस्ते के बदले में उसने भी चुपचाप नमस्ते कर दिया ।

उसके इस रहस्यपूर्ण व्यवहार पर सोचता हुआ मैं पढ़ाने चला गया ।

पाँच-छह दिन बाद ही फिर रामसिंह से भेंट हुई। फिर वही खिलखिलाहट,'बास' और 'सर' कहकर चिढ़ाना और घुल-मिलकर बातें करना। छुट्टी का समय था, इसलिये हम लोगों ने चाय की दुकान पर साथ-साथ चाय पी। काफी देर तक इधर-उधर की बातें करके हम लोग अपने-अपने घर चले गए।

इसके बाद बहुत थोड़ी देर के लिये ही भेंट हुई, बस नमस्कार। पर उसने मुस्कराकर मिलने की खुशी जाहिर की और मैं भी हलका-सा मुस्कराया।

एक दिन चार बजे मैं छुट्टी होने पर पढ़ाकर जा रहा था। वह भी साथ-साथ ही साइकल लिए निकला। मैंने उसे देखा। उसने मुझे देखा। पर वह अपने संगी से बातें करते हुए चला गया, मुझसे नहीं बोला। मुझे फिर विचित्र लगा। छुट्टी के समय ही तो उससे इतनी देर तक बातें हुई थीं। पर इस समय वह देख कर भी मुझे अदेखा कर रहा था। लाचार होकर मैंने उसे नमस्कार कर दिया। उसने भी मुझे नमस्कार कर दिया।

मेरे लिये रामसिंह का यह व्यवहार रहस्यमय बनता जा रहा था। मैं इस रहस्य का हल जानना चाह रहा था। पर ऐसा कोई अवसर ही नहीं मिल रहा था।

तीन-चार दिन बाद ही संयोग से मुझे दफ्तर जाना पड़ा। दफ्तर में मेरे एक परिचित मित्र भी हैं। उनसे मैं बातें कर ही रहा था कि वह भी किसी काम से वहीं आया। आकर मेरे सामने कुर्सी पर बैठ गया और मेरी ओर देखने लगा।

मेरे मित्र बोले—'आपसे मैं इनका परिचय करा दूँ। ये हैं....'

उनकी बात पूरी भी नहीं हुई थी कि मैंने कहा—'मैं इनसे उस समय से परिचित हूँ जब आप इन्हें जानते भी न होंगे। हम लोग काफी पहले हिंदी पुस्तक समिति में साथ-साथ रहे हैं।'

इस पर वह मुझे आश्चर्य से देखने लगा। तभी मेरे मित्र बोले—

'आप धोखा खा गए। ये श्याम सिंह हैं। हिंदी पुस्तक समिति में रामसिंह थे। वे पुस्तकालय में हैं, ये दफ्तर में हैं। ये दोनों जुड़वाँ भाई हैं। एक-सी पोशाक पहनते हैं, बिलकुल एक-सी शकल-सूरत है।' फिर उन्होंने कहा—'मुझे भी शुरू-शुरू में ऐसा ही भ्रम हुआ करता था। पर अब भ्रम नहीं होता। इन दोनों भाइयों में सिर्फ एक ही अंतर है और वह यह कि ये जरा गंभीर हैं और रामसिंह ज्यादा हँसमुख हैं।'

अब मेरा सारा भ्रम मिट गया। रामसिंह का व्यवहार अब मेरे लिए रहस्य नहीं था। वास्तव में कभी मैं रामसिंह से मिलता था, कभी श्यामसिंह से। इसी से यह भ्रम होता था। दोनों जुड़वाँ भाइयों की एक-सी पोशाक और एक-सी शकल के कारण पहचान भी नहीं पाता था।

अब तो दोनों भाइयों से परिचय है। दोनों मिलते हैं। पर दोनों के दो तरह के व्यवहार से न अब किसी प्रकार का आश्चर्य होता है, न भ्रम।

मनोरंजन
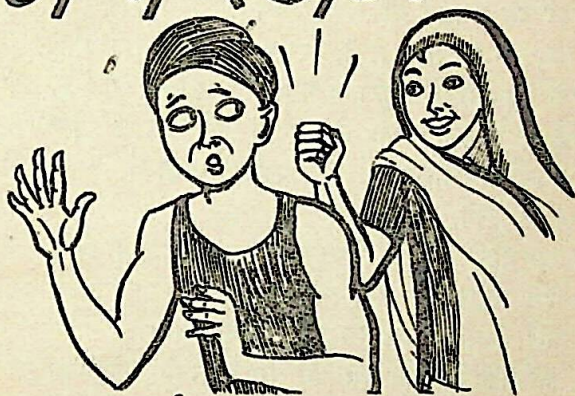
ऐसे तो हिंदुस्तान में पढ़ाई-लिखाई बहुत ज्यादा नहीं बढ़ी है, पर कुछ जरूर बढ़ गई है। पहले की तुलना में गाँवों में अब स्कूल भी बढ़ गए हैं।

लेकिन स्वतंत्रता के पहले स्कूल बहुत कम थे। करीब पाँच-पांच छह-छह गाँवों पर एक स्कूल पड़ता था। प्राइमरी में ही बच्चे तीन-तीन, चार-चार मील दूर पढ़ने जाते थे और मिडिल स्कूल में पढ़नेवालों को तो आठ-आठ मील दूर पढ़ने जाना पड़ता था। अब मिडिल स्कूल को ही जूनियर हाईस्कूल कहते हैं। मिडिल में पढ़ने वालों को मजाक में मिडिलची कहा जाता था।

जब मैंने पारना गाँव की अपनी प्रारंभिक पाठशाला की पढ़ाई पूरी की तो मिडिल में पढ़ने की समस्या आई। मिडिल स्कूल दो थे—चित्राहाट का बाग के अंदर बना सुंदर मिडिल स्कूल और कछपुरा का नया खुला मिडिल स्कूल। एक, दो मील दूर था, दूसरा करीब छह मील। मेरी दिली इच्छा थी कि मुझे चित्राहाट

के मिडिल स्कूल में पढ़ने को मिल जाय। बड़ी श्रद्धा थी इस स्कूल के प्रति—यहाँ के अध्यापकों के प्रति।

पर यह अवसर मुझे कहाँ मिलना था! अंग्रेजी की कहावत है—'आदमी जो सोचता है, ईश्वर उसे नहीं होने देता।' मैं कछपुरा के नये मिडिल स्कूल में गया। श्यामबिहारी, ब्रह्मलाल, चत्ते वगैरह कई अगली कक्षा के लड़के इस स्कूल में पढ़ने जाते थे। यहाँ फीस माफ हो जाती थी। पढ़ाई अच्छी थी ही। गरीब घर का लड़का होने के कारण मैं इसी स्कूल में भेजा गया। यहाँ मेरी फीस तो माफ रही ही, पहनने को मुफ्त कपड़े भी मिले, स्कूल के संस्थापक महोदय का स्नेह भी मिला और उनके यहाँ की दावतें भी मिलीं। अध्यापकों ने भी बड़ा स्नेह दिया।

इस प्रकार रुपये-पैसे की तंगी होते हुए भी मेरी मिडिल की पढ़ाई बिना किसी बाधा के चल पड़ी। स्कूल के बोर्डिङ्ग में हम लोग रहते थे। सोमवार को तड़के चार ही बजे गाँव के छह विद्यार्थी—चत्ते, श्यामबिहारी, मैं, ब्रह्मलाल, शांतिकुमार और प्रकाशचंद्र इकट्ठे होकर चल देते और सात बजे से शुरू होने वाली कक्षा में हाजिर हो जाते।

छह दिन बोर्डिङ्ग में रहते। शनिवार को शाम को घर आ जाते और इतवार को घर पर रहकर सोमवार को फिर छह दिन का आटा, दाल आदि खाने का सामान सिर पर रखकर पढ़ने चल देते।

पढ़ाई का और बोर्डिङ्ग में रहने का यही क्रम चल रहा था। कक्षा छह में आने पर एक घटना घटी। बोर्डिङ्ग में तीस-बत्तीस छात्र थे। पानी की बड़ी दिक्कत थी। इसके लिये एक आदमी रखा गया जो हम लोगों के लिये शाम-सबेरे पानी भरता था।

वास्तव में पानी भरनेवाला आदमी नहीं, हम लोगों से चार पाँच बरस बड़ा एक लड़का ही था। गरीब घर का था और बुद्धि

से बेहद कमजोर था। उसे बातें तक याद नहीं रहती थीं। जैसे तैसे हम लोगों के नाम याद हो गए थे। बाज़ार से कोई सामान तो वह ला ही नहीं सकता था—क्योंकि रुपये-पैसे का हिसाब बिलकुल नहीं जानता था।

वह सिर्फ पानी भर सकता था, और वही वह करता था। बड़ा बलिष्ठ था। अच्छी खुराक थी। उसका नाम टुंडा था। वह पागल नहीं था—बुद्धि से कमजोर था, पर हम लोग उसे पागल ही मानते थे।

टुंडा बड़ा भोला था। बुद्धिहीन या पागलों को लोग सताते ही हैं। हम लोग भी टुंडा को सताकर अपना मनोरंजन किया करते थे। पर ऐसे मौके पर अपनी मूर्खता में भी वह ऐसी चंटई बरतता कि हम लोगों के ही हाथ-पैर टूटते या सिर फटते थे।

टुंडा बोलता तो था हीं नहीं, मानो गूँगा हो। नहाना उसने कभी पसंद नहीं किया भले ही जबर्दस्ती उसे कभी नहला दिया गया हो। पर उसके दाँत तो कोई नहीं माँज सकता था। यही कारण था कि दाँतों पर पीले रंग की मैल की मोटी परत जमी रहती थी।

और उसकी चंटई भी क्या गजब की थी! लड़के घूँसा मारते। टुंडा भले ही नौकर था, पर वह हम लोगों की तरह लड़का भी था। वह भी बदले में घूँसा मारता। उसका घूँसा भी बड़ा करारा होता। हड्डीदार कड़े हाथ का हथौड़ा जैसा घूँसा शरीर पर पड़ता। जब घूँसा खाया हुआ लड़का उसे पकड़ने दौड़ता, वह तेजी से भागता। आगे टुंडा, पीछे लड़का। भागते समय टुंडा अपनी बुद्धि से दरवाजे का एक पल्ला बंद कर देता। और धड़ाम! लड़के का सिर फूटता या नाक टूटती। लड़का तिलमिला जाता। बेचारा टुंडा अपनी करनी का यह परिणाम देखकर सकपका जाता और

इसके लिये हर सजा पाने को तैयार हो जाता—बल्कि सजा पाकर वह प्रायश्चित्त कर लेता।

उसकी चंटई में भोलापन था और हृदय में ममता।

टुंडा पानी भरकर ही हम लोगों की सेवा नहीं करता था; यदि कोई विद्यार्थी बीमार हो जाता, तो उसका सिर दबाता, पैर दबाता और अच्छे होने पर मुस्कराकर खुशी प्रकट करता। यदि कोई उससे एहसान प्रकट करता, तो वह उस समय भी सिर्फ मुस्करा ही देता—मानो कह रहा हो, एहसान मत दिखाओ, मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा किया है। तुम ठीक हो गए, इसी से मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

बहुत बड़ा हृदय था उसका।

किंतु हम लोगों का हृदय बड़ा नहीं था। बहुत छोटे हृदय के थे हम सब शैतान लड़के। हम लोग खुद तो उसे परेशान करते ही थे, अध्यापक से भी मार खिलवाते थे। जब एक बार टुंडा घूँसा मारकर और आधा पल्ला बंद करके भागा तो विद्यार्थी दरवाजे से टकरा गया। उसको हल्की-सी चोट आ गई। टुंडा की शिकायत हुई। अध्यापक ने उसे एक भारी बाँस से मारा। बाँस पुराना था। पाँच-छह बार की मार में ही टुकड़े-टुकड़े हो गया। अध्यापक भी थक गए। टुंडा हूँ-हूँ करके थोड़ा रोया। बाँस फट जाने पर उसे छोड़ दिया गया। वह धूल झाड़कर खड़ा हो गया। पंद्रह मिनट बाद ही हँसने और सबसे घुलने-मिलने लगा।

उसका पत्थर का दिल मोम जितना मुलायम था। शत्रुता तो जैसे उसे किसी से थी ही नहीं। कोई कहता—'टुंडे पानी दे दो।' 'टुंडा पानी लेकर हाजिर हो जाता। किसी की तबीयत बिगड़ती, वह भीतर ही भीतर कसमसाने लगता, दुखी होने लगता—जैसे कह रहा हो, यह लड़का जल्दी से जल्दी ठीक हो जाय।

टुंडे की मूर्खता और बुद्धि की कमजोरी से लाभ उठाकर हम लोग हमेशा मनोरंजन ही किया करते थे। यह मनोरंजन अक्सर उसको तकलीफ पहुँचाकर ही किया जाता था। हम टुंडा को बुद्धिहीन मानते थे, पर वह तो स्वच्छ हृदय का बड़ा भला लड़का था। बुद्धिहीन तो हम लोग थे जो स्कूली शिक्षा से एक छोटी-सी बात भी नहीं सीख पाए थे कि दूसरों को तकलीफ नहीं पहुँचानी चाहिए।

टुंडा से मनोरंजन करने का दूसरा तरीका था, उसका ब्याह कराना। इसमें हमारे एक अध्यापक भी भाग लेते थे। वे टुंडा के ब्याह के मंत्र पढ़ने का नाटक करते थे।

सोचने-समझने में कमजोर टुंडा न जाने क्यों अपने विवाह के लिये सदा उत्सुक रहता। उससे जब भी कहा जाता—'टुंडे, आज रात को तुम्हारा ब्याह होगा' तो उसके मोटे-मोटे ओंठ खिल जाते। अपने विवाह का प्रस्ताव वह तुरन्त स्वीकार कर लेता। विवाह के रूप में उसको बहुत तकलीफ पहुँचाई जाती, किंतु फिर भी वह हर बार विवाह के लिये तैयार हो जाता।

विवाह के समय उसके सामने शर्त रखी जाती कि वह विवाह होने से पहले अपनी स्त्री का मुँह नहीं देखेगा। वह खुशी-खुशी इस शर्त को मान लेता। फिर विवाह की तैयारी होती। किसी लड़के को कपड़ा ओढ़ा दिया जाता। टुंडा भी कपड़ा ओढ़ता। सिर पर कोई चीज बाँध दी जाती। इसे मुकुट कहा जाता। टुंडा भी इसे मुकुट मान लेता।

जब पंडितजी विवाह के मंत्र पढ़ने का नाटक कर चुकते तो कहा जाता—'टुंडे, लो, तुम्हारा विवाह हो गया।' इतना कहते ही कपड़ों में ढँका लड़का घूंसों, व थप्पड़ों और चाँटों से टुंडा की आवभगत करने लगता। यह शर्त पहले ही करा ली जाती

थी कि यदि स्त्री मारे भी तो वह सह लेगा। विवाह की खुशी में टुंडा इस शर्त को भी मान लेता था।

मारपीट में अन्य लड़के भी भाग लेते। तब बेचारा टुंडा घबड़ाकर भागता और कहता—'अब ब्याह नहीं कराऊँगा। अब कभी ब्याह नहीं कराऊँगा।'

पर हफ्ता बीतते-बीतते वह अपनी पीड़ा भूल जाता और हम लोगों को फिर मनोरंजन करने का अवसर देने को तैयार हो जाता—वह मनोरंजन जो कुटिल और क्रूर था, जिसमें लेशमात्र भी मनुष्यता नहीं थी। पर हम थे कि मनोरंजन किए जा रहे थे—अत्याचार को मनोरंजन मानकर खुश हो रहे थे।

मिडिल के बाद सभी साथी इधर-उधर बिखर गए। टुंडा भी दिमाग से उतर गया।

कुछ वर्ष बाद एक दिन टुंडा इटावा में मुझे मिला। उसने मुझे तुरंत पहचान लिया। सहज भाव से उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और अपने मोटे-मोटे ओठों से मुस्करा दिया। वह बोलता तो कम था ही। उस समय उसने सिर्फ एक ही वाक्य कहा—'मैं हलवाई की दुकान पर काम करता हूँ।'

जिसको तकलीफ पहुँचाकर हम मनोरंजन किया करते थे, वह टुंडा अब अक्सर याद आता है। काफी अरसा हो गया। न जाने वह कहाँ होगा। पर यदि वह मिलता और मैं उससे कहता—'टुंडे, क्षमा करना, मैंने तुम्हें बहुत सताया है' तो वह सिर्फ मुस्करा देता, मानो कहता हो—'क्षमा मत माँगो, मैं तुमसे मिलकर बड़ा खुश हूँ,—और वह मेरा हाथ पकड़कर चुपचाप खड़ा हो जाता।

बुद्धू
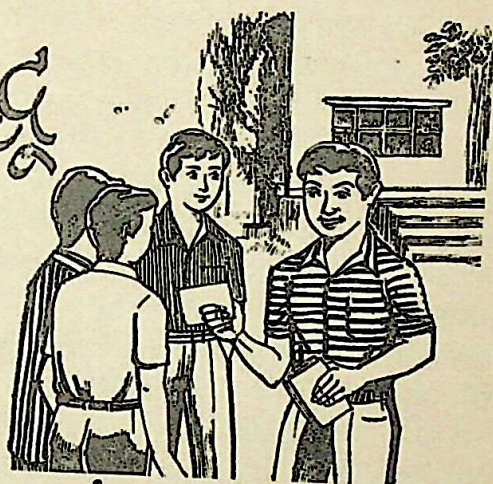
श्याम अपने माता-पिता का इकलौता लड़का था। वह बहुत लाड़ला था। पढ़ने-लिखने में बहुत होशियार, तीव्र बुद्धि और आज्ञाकारी था। किन्तु था बहुत शरारती। अन्य सामान्य बच्चों के समान वह भी शरारतें करता रहता और खुश होता।

स्कूल में अध्यापकों और सहपाठियों से शरारतें करता। घर में, पड़ोसियों और माता-पिता से भी शरारत करने से न चूकता। बुद्धू बनाने के वह नए-नए तरीके सोचता रहता। वह ऐसे तरीके सोचता कि बहुत सावधान रहने पर भी दूसरे बुद्धू बन जाते और झल्ला जाते, लज्जित होते, पर हँसते और मजा भी खूब लेते।

बुद्धू बनाने के पीछे श्याम का उद्देश्य केवल हँसना-हँसाना ही रहता था। इसलिए कभी किसी ने उसकी बात का बुरा नहीं माना। बल्कि, बेवकूफ बनने वाले तक श्याम की बुद्धिमानी की प्रशंसा करते कि वह कितनी होशियारी से बेवकूफ बनाता है कि लोग बार-बार बेवकूफ बनते हैं।

पहली बार श्याम ने अपनी कक्षा के विद्यार्थियों को बेवकूफ बनाया। उसने पूरी कक्षा को निमंत्रण दिया—'आज मेरा जन्म दिन है, शाम को चार बजे सब लोग घर पर आ जायें। बढ़िया दावत होगी।'

ठीक समय पर सब विद्यार्थी घर पहुँच गए। पर वहाँ न श्याम था, न घर पर जन्म दिन की कोई तैयारी थी। सब चकराए। सब उसकी माँ के पास पहुँचे—'माताजी आज श्याम का जन्म दिन है। हमलोग इसीलिए आए हैं।'

'पर बेटा, जन्म दिन तो कल है, कल आने को कहा होगा। तुम लोग भूल गए हो, कल तुम लोग जरूर आना। दावत भी होगी।' श्याम की माँ ने कहा।

आधे विद्यार्थियों ने तो यह मान लिया कि वे भूल गए हैं, पर आधे इस बात पर दृढ़ रहे कि श्याम ने उनसे आज ही आने को कहा था।

फिर भी बात खतम कर सब छात्र घर चलने को तैयार हो गए। पर तभी श्याम की माँ ने चाय बनाकर सबको एक-एक कप पिलाई। सब खुश हो गए। दूसरे दिन आने के लिए एक बार फिर श्याम की माँ ने सबसे कहा।

जब वे लौट रहे थे तो रास्ते में श्याम मिला। विद्यार्थी कुछ कहें, इसके पहले ही उसने एक बड़ा-सा लिपटा हुआ कागज खोलकर सबके सामने कर दिया। उस पर लिखा था—'कैसा बुद्धू बनाया ? अप्रैल फूल !'

तब सबको ध्यान आया—आज तो अच्छे मूर्ख बने।

श्याम ने उसी समय दूसरे दिन आने का असली निमंत्रण दे दिया, जिस दिन सचमुच उसका जन्म दिन था।

दूसरी बार श्याम ने अपने पड़ोसी को बुद्धू बनाया। उसमें भी वह सफल रहा और पड़ोसी को दस रुपये की मिठाई लाकर

मुहल्ले में बाँटनी पड़ी। बाद में मालूम होने पर वे भी पछताए कि रोज सतर्क रहते थे, पर आज न जाने कैसे भूल हो गई ?

पर अबकी बार श्याम बड़ी तैयारी से योजना बना रहा था। यह वह जानता था। मित्रों को क्या कह कर घर बुलाया जाय कि वे चले आएँ और फिर घर पहुँच कर अनुभव कर कि वे मूर्ख बन गए ? मौखिक निमंत्रण पर कोई आने वाला न था।

सोचते-सोचते श्याम को एक तरकीब सूझ गई। उसके यहाँ एक हफ्ते बाद सत्यनारायण की कथा होने वाली थी। उसमें एक छोटी-सी दावत भी थी। श्याम ने कुछ कार्ड छपवाए और अपने मित्रों को निमंत्रित कर दिया। 'महोदय, कल सत्यनारायण की कथा है। आप सब लोग आइए और कथा सुनिए। दावत में भी रहिए। आपका हार्दिक स्वागत है।

अब तो संदेह करने की कोई बात ही न थी। कार्ड छपे हुए थे और कथा के बारे में थोड़ा-बहुत पहले से भी सबको पता था। श्याम ने ही कभी चर्चा की थी।

कार्ड लेकर ठीक समय पर सारे साथी श्याम के घर पहुँच गए। उस समय एक बज रहा था। यही कथा का समय होता है। श्याम के पिताजी उस दिन किसी कारण से घर पर ही थे।

'नमस्ते चाचाजी ?' एक साथ कई बच्चों का नमस्ते सुनकर श्याम के पिता जी चौंक पड़े। श्याम ऐसे अवसर पर प्रायः घर से कहीं चला जाता था और घटे-आधे घंटे बाद मूर्ख बने लोगों से मिलता था।

'कहो भाई कैसे आना हुआ ?' श्याम के पिताजी ने सबसे पूछा।

सबके होश गायब। श्याम ने कथा सुनने और दावत के लिए बुलाया है और अब उसके पिताजी पूछ रहे हैं—'कहो भाई, कैसे आना हुआ ?'

लज्जित होते हुए सबने अपने कार्ड आगे कर दिए।

कार्ड पढ़ कर पहले तो श्याम के पिताजी कुछ समझ न सके।—कार्ड ठीक हैं। समय और तारीख ठीक है। तभी, उन्हें समझ में आ गया—श्याम ने अपने दोस्तों को बुद्धू बनाया है। उन्होंने मन में तुरन्त एक निश्चय कर लिया,—'तुम लोग बैठो। अभी कथा होती है। मैं तो भूल ही गया था कि आज कथा कहलानी है।'

घर के अन्दर जाकर उन्होंने श्याम की माँ को सारी बात बताई—'क्यों न आज ही कथा कहला ली जाय। आज भी अच्छा दिन है। बच्चे भी आ गए हैं। उन्हें निराश करना ठीक नहीं।'

'कहला लीजिए। कथा में कौन ज्यादा लोगों को बुलाना है। बच्चे हैं। पड़ोसियों को कह देती हूँ। बाजार से पूड़ी-तरकारी मँगवा कर बाद में सबको खिला भी दीजिएगा।' श्याम की माँ ने हाँ कर दिया।

सारा काम बड़ी जल्दी हुआ और कथा शुरू हो गई। जब श्याम घर आया तो आधी कथा समाप्त हो चुकी थी।

'यह क्या ?' वह आश्चर्य में पड़ गया। 'क्या आज ही कथा होने वाली थी ? पिताजी ने मुझे बताया क्यों नहीं ?' वह कुछ समझ नहीं पाया।

बच्चे बैठे कथा सुन रहे थे। पड़ोस के पंडित माधवरामजी कथा कह रहे थे। शंख-घड़ियाल बजा। कथा का अध्याय पूरा हुआ।

'श्याम, तुम कहाँ चले गए थे ? तुम्हारे साथी कबके आ गए और तुम इधर-उधर घूम रहे हो' उसके पिताजी मुस्कराते हुए बोले।

श्याम कुछ जवाब न दे सका।

कथा खतम होने के बाद प्रसाद बाँटा गया। श्याम ने ही

प्रसाद बाँटा। फिर एक छोटी-सी दावत भी हो गई। पूड़ी-तर-कारी तो नौकर पहले ही बाजार से ले आया था।

श्याम सब कुछ देख रहा था। लेकिन साथ ही लज्जा और घोर आश्चर्य का भी अनुभव कर रहा था। 'आखिर यह सब कैसे हो गया ? वह कुछ भी नहीं समझ पा रहा था।'

दावत में श्याम के पिताजी ने श्याम को भी सबके साथ बैठाया।

जब सब लोग खा पी चुके तो श्याम के पिताजी बोले—'श्याम आज का बुद्धू कार्यक्रम बढ़िया रहा।' फिर वे खूब हँसे '—चलो, कथा तो कहलानी ही थी। आज हो हो गई।'

बात साफ थी।

श्याम के पिताजी ने श्याम को ही बुद्धू बना दिया। पर यह सब मज़ाक ही मज़ाक में चल रहा था। इसलिए श्याम को भी खास लज्जित न होना पड़ा। पर इस बात का उसे आश्चर्य हुआ कि उसके पिताजी भी उसके साथ मज़ाक कर सकते हैं और वह भी इतना बड़ा मज़ाक !

श्याम के साथियों को भी अब सारा रहस्य मालूम पड़ा कि वे आज बुद्धू बनते-बनते बच गए।

सब काम इतने ठीक ढंग से हुआ कि सारा आयोजन हँसी खुशी के बीच खतम हुआ।

और श्याम ने उसी समय एक निश्चय भी कर लिया। अगली बार वह बहुत सावधान रहेगा। कहीं उसके पिताजो ही उसको बुद्धू न बना दें।

लाटरी
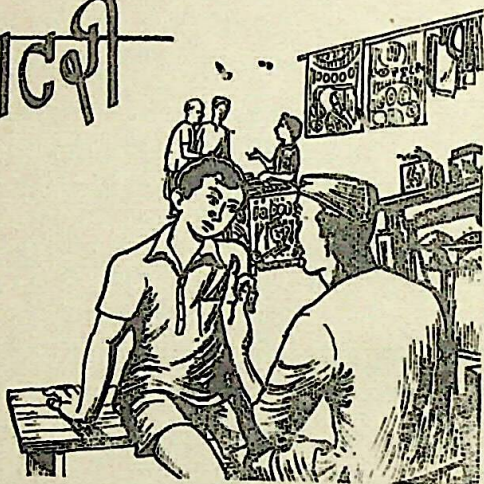
राजस्थान लाटरी के इनाम निकले चार दिसंबर को और मैंने लाटरी का टिकट खरीदा था दो दिसंबर को।

लाटरी का टिकट मैंने आज तक नहीं खरीदा था। कभी खरीदने में रुचि ही नहीं पैदा हुई। टिकट खरीदकर मन को झूठे भ्रम में डालना और एक रुपया बर्बाद करना—मुझे यह बात ज्यादा पसंद नहीं आती थी।

पर जब मैं उस दिन अपने मित्र से उसकी दूकान पर मिलने गया तो देखा कि मेरा मित्र लाटरी के टिकट भी बेच रहा है। दूकान के सामने ही मेज जमाकर लाटरी के टिकटों की भी दूकान लगा ली है। मैं मन में मुस्कराया। यह मुस्कराना अपने मित्र पर था कि कैसा फिजूल का काम शुरू किया है। फिर यह मुस्कराना कुछ-कुछ अनेक राज्यों के उन लाटरी टिकटों पर भी था जो तीन लाख, चार लाख और पाँच लाख का प्रलोभन देकर ग्राहकों को

अपनी ओर बुला रहे थे। इस मुस्कराहट में यह भाव भी था कि मैंने टिकट खरीदने की मूर्खता कभी नहीं की।

दूकान पर मैंने अपने मित्र के पिताजी को नमस्कार किया। मैं भी उन्हें आदर से पिताजी ही कहता हूँ। वे बड़े हँसमुख हैं। कभी-कभी तो मुझसे ही मजाक करने लगते हैं।

मजाकिया पिताजी से नमस्कार करने के बाद मित्र से चार आँखें हुईं। वह दो ग्राहकों को हरियाणा और राजस्थान के टिकट बेच रहा था। मैं मुस्कराया, वह भी मुस्कराया। उसकी मुस्कराहट मिलने की प्रसन्नता का परिणाम थी और मैं मुस्कराया था यह सोचकर कि वह किस प्रकार लोगों को धोखा दिए जा रहा है जबकि इनाम आएगा कुछ ही लोगों का—हालाँकि बाद में मैंने अपने विचारों में संशोधन कर लिया।

पिताजी अर्थात् मित्र के पिताजी के पास बैठते ही वे बोले—'एक टिकट तुम भी ले लो।'

मेरे ऊपर वज्र-सा गिरा। टिकट खरीदने की तो मैंने कल्पना तक न की थी।

'अरे मन्नू,' पिताजी ने प्यार के घरेलू नाम से मेरे मित्र और अपने पुत्र को पुकार कर कहा—'भाई, इनको भी एक टिकट दे दो।'

'नहीं पिताजी, मैं टिकट नहीं लूंगा' मैंने विरोध करते हुए कहा।

'क्यों ?'

'इनाम तो आएगा नहीं।'

'क्यों नहीं आएगा' उन्होंने कहा। 'हर ड्रा में ढेरों इनाम निकलते हैं।' फिर मजाक करते हुए बोले—'ले लो यार। परसों

ही खुलने वाली है। चार लाख आ जाय तो फर्स्ट क्लास मकान बनवाना। हमको किरायेदार रख लेना।'

'आप तो पिताजी मजाक कर रहे हैं,' मैंने कहा।

'मजाक की क्या बात है।' वे हँसकर बोले—'तुम्हारा इनाम आएगा तो मकान नहीं बनवाओगे। किराये के ही मकान में हमेशा रहोगे ?'

'नहीं पिताजी, पर इनाम आता कहाँ है ?'

'आता क्यों नहीं। यह संयोग की बात है। शायद अबकी तुम्हारा ही आ जाय।'

पिताजी का आखिरी वाक्य मन में धँस गया—'शायद अबकी तुम्हारा ही आ जाय।' मेरे मन के कोने में भी शायद यह विचार था, जो हाँ में हाँ मिला रहा था—'हो सकता है, अबकी तुम्हारा ही इनाम आ जाय। आखिर किसी न किसी का तो पहला इनाम आएगा ही और वह आदमी कोई भी हो सकता है, तुम भी हो सकते हो। और ऐसा तभी होगा जब तुम टिकट खरीदोगे!'

हर काम का प्रत्यक्ष फल नहीं होता। कुछ संयोग भी होते हैं। परीक्षा की तैयारी की। प्रथम श्रेणी की तैयारी और प्रथम श्रेणी के नंबर पाने की पूरी आशा। पर एक प्रश्नपत्र पूरा होते ही बीमार पड़ गए। बीमारी में परीक्षा दी। परचे सब बिगड़े। उत्तीर्ण तो हुए पर प्रथम श्रेणी का श्रेय अन्य छात्र को मिल गया, जो न अधिक प्रतिभाशाली था और न जिसने विशेष मेहनत ही की थी।

ऐसे संयोग का कारण कुछ नहीं होता, न पूर्वजन्म के कर्म और न भाग्य। संयोग बस संयोग है। कोशिश तो हर बात की करनी चाहिये, पर किसी काम का फल इच्छानुसार भी हो सकता है, इच्छा के विपरीत भी।

मुझे चुप देखकर पिताजी ने मित्र को इशारा किया और टिकट जेब में आ गया।

'नहीं, नहीं, मैं क्या करूँगा टिकट लेकर' ऊपर से तो मैं यही कह रहा था, पर मन के भीतर कोई टिकट खरीदने को उकसा भी रहा था। इसीलिये टिकट मेरी जेब के भीतर जा चुका था और मैं पैंट की जेब से एक रुपया निकाल कर दे रहा था।

थोड़ी देर बाद मैं घर लौटा। रास्ते में सोचने लगा—'आखिर आज टिकट लेना ही पड़ा। लेकिन इसमें बुराई क्या है। एक रुपये की क्या कीमत ! समझ लिया, खो गया। और फिर इनाम आ गया तो कहना ही क्या ?' मेरा मन फिर सोचने लगा—'अच्छा, इनाम आया तो कौन-सा आयेगा ?'

मैंने मन को दबाया—'फिजूल की बातें सोचना ठीक नहीं। जो आएगा सो आएगा।' टिकट मोड़-माड़कर जेब में डाला और दूसरी बातें सोचने लगा।

वह दिन बीत गया। लाटरी संबंधी कोई विचार मैंने अपने मन में नहीं आने दिया। दूसरा दिन भी गुजर गया। इस दिन भी लाटरी की कोई बात दिमाग में न आने दी। तीसरा दिन चार दिसंबर था। इसी दिन लाटरी के इनाम तय होने थे। पर सामने तो पाँच को आते—सुबह के अखबार में। जिसका इनाम होगा, कल सुबह अखबार में आ ही जाएगा। सिर सोचना क्या ! और चार तारीख भी बीत गई।

पाँच को सुबह छह बजे नींद खुलते ही पहला विचार मन में आया—आज लाटरी के इनाम निकलेंगे। थोड़ी देर बाद ही अखबार आ जाएगा। मेरी साँस तेजी से चलने लगी। अधीर होकर मैं अखबार का इंतजार करने लगा। लाटरी, लाटरी, लाटरी—इनाम ! इनाम ! इनाम ! चारों ओर मुझे यही दिखाई देने लगा

और यही सुनाई देने लगा। दीवाल, दरवाजे, खिड़की, आलमारी, सब जगह जैसे दो ही शब्द लिखे दिखाई दे रहे थे—लाटरी, इनाम !

कितने का इनाम आयेगा ? मन के भीतर से साफ आवाज आई—'चार लाख का'—मन के भीतर से ही उत्तर आया—चार लाख !

बाप रे ! कहीं मैं देख कर घबड़ा न जाऊँ ! वेहोशी न आ जाय। इतने रुपये तो मैंने जीवन में कभी नहीं देखे।

और इतने रुपये का करूँगा क्या ? मित्रों को एक पार्टी दे दूँगा। पिताजी की दो सौ पच्चीस रुपये की महीने नौकरी छुड़वा दूँगा। फिर उनसे एक अच्छा-सा मकान बनवाने को कहूँगा। पूरा पचास हजार मकान में लगा दूँगा। और...और बेबी को अच्छे स्कूल में भरती करा दूँगा। वहमोटर में बैठकर पढ़ने जाया करेगी। पिताजी के लिए अच्छे कपड़े बनवा दूँगा। अपने लिए जाड़े के दुहरे ऊनी कपड़े बनवा लूँगा। माँ मजाक में सोने की जजीर पहनने को कहती रहती हैं। उनके लिये सोने की जजीर और कई अच्छी साड़ियाँ ला दूँगा। और....और अपने लिए एक साइकिल भी ले लूँगा।

'मोटर साइकिल नहीं ?' मन के भीतर से आवाज आई। 'अभी छोटा हूँ। एक्सीडेंट हो सकता है। साइकिल ही ठीक है।' मन ने ही उत्तर दिया।

और बचे रुपये बैंक में जमा कर दूँगा, आगे काम आएँगे।

पर यदि पंद्रह हजार आया ? तो भी काई बात नहीं। उतने से भी कई काम होंगे। पार्टी तब भी दी जा सकती है। और यदि एक हजार आया ? वह जो पिताजी के ऊपर कर्ज है उसमें से दे देंगे। अपने मित्रों को एक छोटी-सी पार्टी भी दे देंगे। पर शायद सौ ही आये....।

सौ रुपये कौन बड़ी बात है। घर के काम आ जाएंगे। फिर सौ में भी कोई नुकसान नहीं है। सौ रुपये भी एक रुपये से तो ज्यादा ही हैं।

'मोहन, आज सोते ही रहोगे क्या?' माँ की आवाज आई।

सचमुच सोचते-सोचते सात बज चुका था। स्कूल भी जाना था। जल्दी से उठा, तैयार हुआ। कुछ खाया-पिया और कपड़े पहने।

'माँ, अभी आ रहा हूँ' कहकर जल्दी से मैं अपने पड़ोसी के यहाँ टिकट लेकर गया। उनके यहाँ अखबार आता था।

अखबार मेज पर रखा हुआ था। मैंने जल्दी से उठाया और टिकट निकालकर जल्दी से मिलाने लगा—एफ २८१....। पहले पाँच लाख वाले इनाम देखे। उनमें दूसरे ही नंबर थे। फिर पंद्रह हजार वाले देखे। उनमें भी अलग नंबर थे। फिर एक हजार वाले इनाम देखे। वहाँ भी मेरे वाले टिकट का नंबर नहीं था। फिर पाँच सौ और फिर सौ के इनामों में भी मेरा नंबर नहीं था। नंबर निकला ही नहीं।

टिकट को फाड़कर फेंक दिया। अब वह बेकार था। मन जरा उदास हुआ। पर तभी पिताजी अर्थात् मित्र के पिताजी की बात याद आ गई—'यह तो संयोग की बात है। शायद....।' शायद माने निश्चय नहीं। टिकट लेने का मतलब यह तो नहीं कि इनाम आयेगा ही।

विचार मेरे मन में और गहरे गया। आदमी जीवन में बहुत कुछ करता है। वह सफल होता है, और अपने काम का फल पाता है। पर महत्त्व काम को ही ज्यादा देना चाहिये, फल को नहीं। किसी भी काम का फल पहले से तय नहीं रहा करता है। समय आने पर ही हर काम के फल का पता लगता है।

मेरे टिकट का इनाम भले ही नहीं आया, पर एक रुपये के टिकट से मुझे बहुत कुछ अनुभव हुआ।

मन की उदासी दूर हो गई और मैं खुश हो गया। घर आकर खाया-पिया और ठीक समय पर स्कूल गया। तीन दिन से लाटरी के विषय में मन में चलने वाले विचार अब खतम [illegible]। पर घर में या बाहर, मेरे सिवाय इन विचारों को कोई नहीं जानता था।

सफर
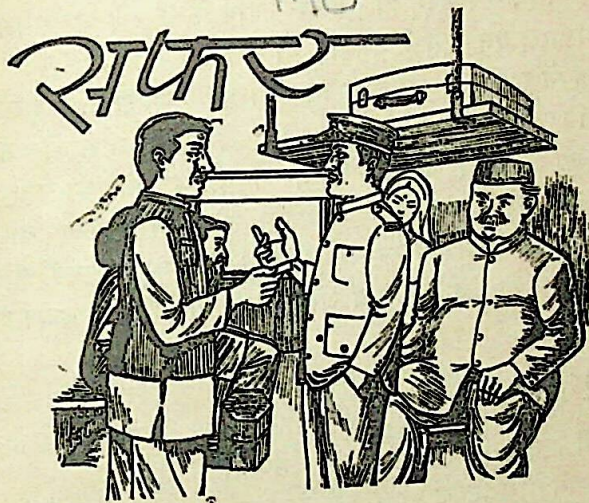
पहले गाड़ियों में बड़ी भीड़ रहती थी; अब कुछ कम हो गई है। अब बैठने के लिए कुली ज्यादा मोल-भाव नहीं करते और न डिब्बे में बैठने भर के ही लिये चार-पाँच से लेकर सात-आठ रुपये तक खर्च करने पड़ते हैं। सात रुपये का टिकट और पाँच रुपये डिब्बे में जगह पाने के। कैसी अजीब बात है।

फिर भी रेल-रेल है और डिब्बा-डिब्बा। मतलब, रेल में आदमी बैठता है तो उसे रेल में बैठने के नियमों का पालन तो करना ही होगा। रेल विभाग ने नियम बनाया है कि हर आदमी अपने साथ सिर्फ पैंतीस किलो सामान ले जा सकता है तो उसे पचास किलो या एक क्विंटल सामान नहीं ले जाना चाहिये। और यदि उसने ऐसा किया है तो भी यात्रा करने से उसे रोका नहीं जाएगा—वह अतिरिक्त भाड़ा चुका दे।

पर गलती भी तो आदमी ही करता है। सब लोग न तो समझ-

दार होते हैं, न विद्वान् ही, बल्कि स्वार्थ के कारण तो समझदार भी नासमझ बन जाते हैं, विद्वान् भी मूर्ख बन जाते हैं।

अपने स्वार्थ के कारण मैं भी ऐसा ही नासमझ और मूर्ख बन गया। जब मैं यात्रा करने चला तो अपने साथ ऐसा सामान लेकर चला जो जगह तो ज्यादा नहीं घेरता था, पर जिसका वजन था पूरा एक क्विटल। साथ में अपनी छोटी-सी अटैची थी ही, जिसमें बारह-तेरह किलो सामान होगा। सफर करने जब मैं चलता हूँ तो पढ़ने के लिए किताबें जरूर ले जाता हूँ। यही वजन बढ़ा देती हैं।

इस तरह ज्यादा जगह न घेरने पर भी एक क्विटल से अधिक सामान मेरे पास था। कुली ने सामान लाकर डिब्बे में रख दिया और मैं टिकट लेकर इत्मीनान से बैठ गया।

अपने पास टिकट हो तो चैकर नौकर-सा लगता है और टिकट न हो तो चैकर यमराज से भी बड़ा लगता है। बिना टिकट यात्री चोर की तरह सफर करता है। वह कभी इस डिब्बे में बैठता है, कभी उस डिब्बे में—कभी इधर झाँकता है, कभी उधर। पर मेरे पास तो टिकट था इसलिए में बड़े आराम और इत्मीनान से बैठा था।

जब गाड़ी चली तो मैंने अगल-बगल देखा—और कौन-कौन बैठा है? मेरी बगल में एक महिला बैठी थीं, बड़ी हँसमुख। गाड़ी छूटते ही उन्होंने तरह-तरह की बातों से हँसाना शुरू कर दिया। दूसरी ओर बगल में एक पंजाबी सज्जन बैठे थे जो अपनी भूरी दाढ़ी पर बार-बार हाथ फेर रहे थे। सामने की चार सीटों में से करीब तीन सीटों पर एक चौबेजी बैठे थे। वे जानबूझ कर तीन सीटें नहीं घेरे हुए थे—तीन सीटें अपने आप उनके द्वारा घिर गई थीं। सचमुच वे इतने मोटे थे कि चार में से सिर्फ एक सीट पर एक आदमी बैठा था और पूरी तीन या पौने तीन सीटों पर चौबे-

जी विराजमान थे। स्वभाव से चौबेजी बड़े अच्छे लगते थे, पर एक यात्री जिसे जगह नहीं मिली थी, खड़ा-खड़ा उन्हें देख कर नाराज-सा हो रहा था। अगर चौबेजी इतने मोटे न होते तो उसे कम से कम एक सीट तो बैठने को मिल ही जाती। पर चौबेजी लाचार थे और यात्री का नाराज होना भी गलत नहीं था।

खड़े हुए यात्री को छोड़कर सब हँस बोल रहे थे। खड़े हुए यात्री का चुप रहना स्वाभाविक था। उसका एक सीट का हक चौबेजी ने मारकर उसे परेशान कर दिया था। फिर भी वह चुपचाप सब कुछ सहन कर रहा था।

उस समय कोई ऐसा प्रसंग छिड़ा था, जिस पर सब हँस रहे थे, तभी डिब्बे में एकाएक टिकट चैकर आ गया। एक सज्जन उठकर बाथरूम की ओर जाने लगे। चैकर समझ गया और सबसे पहले उन्हीं को चैक किया। महाशय तुरन्त गिरफ्त में आ गये। दस रुपये जुर्माने के साथ एक रुपये का टिकट चैकर ने बनाकर दे दिया। महाशय गिड़गिड़ाये तो बहुत कि उनके पास रुपये नहीं हैं—पर उनके पास ग्यारह नहीं, पूरे बीस रुपये निकले।

इसके बाद मेरा नम्बर आया। मैंने निहायत इत्मीनान से अपना टिकट दिखा दिया, जैसे कोई बड़ा काम किया हो। चैकर ने टिकट जाँचा, फिर मेरे सौ किलो अर्थात् एक क्विटल के लोहे के तोलने के दो बाँटों को देखकर कहा—'ये किसके हैं ?'

'मेरे'—मैंने उत्तर दिया।

'इनको बुक कराया ?' टिकट चैकर ने पूछा।

'इनको क्या बुक कराता। जरा-सी जगह में रखे हैं। किसी को बैठने में अड़चन भी तो नहीं है'—मैंने कहा।

'वह तो ठीक है, पर इसका भाड़ा देना होगा। दस रुपये जुर्माना भी लगेगा।' टिकट चैकर बोला।

मेरा चेहरा फक्क हो गया। यह आफत कहाँ से आ गई। मैंने तो ऐसा सोचा ही नहीं था। बचने का उपाय सोचने लगा।

एकाएक मैंने एक बेजोड़ तर्क से चैकर को शांत करना चाहा। मैंने कहा—'आप जगह का ही किराया लेते हैं न ?'

'जी हाँ।' चैकर ने कहा।

'अगर आप जगह का ही किराया लेते हैं तो सामने देखिये। ये चौबेजी तीन सीटों पर बैठे हैं और टिकट इनके पास एक ही है।' चैकर मेरी बात सुनकर मुस्करा दिया। पर मैंने देखा कि चौबेजी के चेहरे का रंग बदल गया है। उन्हें भय हो गया कि चैकर शायद उनसे भी कुछ कहेगा ? खास तौर से तब जबकि एक महाशय खड़े हुए थे।

मेरी बात का औरों ने भी समर्थन किया। एक यात्री ने कहा —'चैकर साहब, आप रेल में वजन का तो किराया लेते हैं, पर यह तो ध्यान में रखना ही चाहिए कि एक आदमी एक ही सीट पर बैठे।' उनका इशारा सीधे चौबेजी की ओर था।

बात चैकर को गंभीर-सी लगी। एक आदमी मोटा होने के कारण सवा या डेढ़ सीट पर बैठ जाए, यह तो ठीक है। बीमार आदमी तीन-चार सीटों पर लेट जाए, यह भी ठीक है। लेकिन यहाँ तो मामला ही विचित्र था। एक अच्छा-खासा स्वस्थ आदमी एक टिकट लेकर तीन सीटें घेरे हुए था।

चैकर ने कहा—'बात आपकी ठीक है। एक आदमी को एक ही सीट पर बैठना चाहिए। पर क्या किया जाए ? टिकट आदमी को दिया जाता है, आदमी का आकार नहीं देखा जाता। मोटे-पतले आदमियों के लिए रेल में कोई अलग नियम नहीं है।'

टिकट चैकर जिस समय बोल रहा था, चौबे जी नाराज-से लग रहे थे। पर चैकर उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, यह चैकर ने खुद ही बता दिया था। जरा रुककर चैकर फिर मेरी ओर

मुड़ा—'तो आप दस रुपये जुर्माने के साथ इन बाँटों का टिकट लीजिए। आपको छोड़ा नहीं जा सकता।'

वैसे चैकर ने मेरे साथ सज्जनता का ही व्यवहार किया, पर मुझे दस रुपये जुर्माने के और बाँटों का किराया देना ही पड़ा। लेकिन यह विचित्र मामला था। मैंने गलती की, इसको मैं मानता हूँ। मुझे इस बात का संदेह भी था कि कहीं चैकर मुझे पकड़ न ले, पर चौवेजी जो गलती कर रहे थे, उसके लिए चैकर ने कुछ नहीं किया।

फिर भी चैकर उनका कुछ न कर सका, क्योंकि वैसा कोई नियम नहीं था, पर दो-एक लोगों ने मेरे साथ सहानुभूति दिखाई और स्पष्ट कहा कि रेलवे विभाग को ऐसे मामलों पर भी विचार करना चाहिए। कम से कम एक आदमी तीन सीटों पर बैठे, यह तो नहीं ही होना चाहिए—एक सीट से थोड़ी-सी ज्यादा जगह में बैठ जाये, यह दूसरी बात है।

चौबेजी के सफर की—मेरे जुर्माने की नहीं, यह विचित्र घटना थी।

—

मनतोरा

मनतोरा तो बस मनतोरा ही थीं—

सीधी-सादी सरल हृदय। वे हम लोगों के स्कूल में दाई का काम करती थीं। गोरा, गठा हुआ शरीर और कद नाटा। सफेद बुर्राक धोती पर सफेद बुर्राक चद्दर। यही विधवाओं की वेशभूषा है। वे इसी वेशभूषा में रहती थीं। हमने जब देखा तब उनकी उम्र करीब पचास साल की थी। वे विधवा कब हुई थीं, हम नहीं जानते।

अपनी सफेद वेशभूषा में मनतोरा परी जैसी लगती थीं। परियों की कहानियाँ बचपन में मैंने पढ़ी हैं। मनतोरा भी अपने सफेद कपड़ों में चलतीं तो लगता जैसे परी जा रही है।

वे सुन्दर भी थीं।

मनतोरा का काम यह था कि बच्चों को उनके घर से स्कूल लाती थीं और छुट्टी होने पर फिर उनको उनके घर पहुँचाती थीं।

दाइयाँ तो स्कूल में और भी थीं—मालिन दाई, कुसुम दाई, बेला दाई और दाखी दाई। हम सब लोग उन्हें नाम के आगे काकी कहकर बुलाते थे। बड़ी दीदी अर्थात् प्रिंसिपल जी की हिदायत थी कि कोई लड़की बिना काकी कहे किसी दाई से बात न करे। वह खुद भी दाइयों का बड़ा आदर करती थीं।

एक मनतोरा की बात अलग थी। वे काकी नहीं नानी थीं। प्रिंसिपल जी भी उनका अदब करती थीं और उन्हें मनतोरा बहन कहती थीं। हम लोग उन्हें सिर्फ नानी कहते थे—मनतोरा नानी भी नहीं।

वे नानी जैसी थीं भी। नानी जैसे नाती और नातिनियों से प्यार करती हैं, वैसे ही वे सब लड़कियों से प्यार करती थीं। वे खासतौर से उन्हीं बच्चों को घरों से लातीं, जो स्कूल आने में रोते थे। और दाइयाँ हार जातीं, माता-पिता डाँट-डपटकर, समझाकर हार जाते। तब यह ड्यूटी नानी अर्थात् मनतोरा को सौंपी जाती और बच्चा स्कूल आ जाता। न जाने कौन-सा जादू था उनके व्यवहार में।

जो बच्चे उनके साथ आते, वे उन्हीं के साथ घर भी जाते। दूसरे का मन उनका मन हो गया था, उन्होंने बच्चों का मन जीत लिया था।

बच्चों को क्लासों में पहुँचा कर मनतोरा स्कूल के फाटक का बोरा बिछाकर बैठ जातीं। थोड़े-से छोले घर से बनाकर लातीं और बच्चों को बेचतीं। कुछ बच्चे नाश्ते के साथ छोले खरीदकर खाते, कुछ रूखा। पर मनतोरा को तत्काल पैसा देना जरूरी नहीं था। यदि किसी के पास पैसा न होता और वह जलपान की छुट्टी में मनतोरा के पास खड़ा हो जाता तो वे तुरन्त दोने में छोले देते हुए कहतीं—'लो बेटा, खाओ।'

नानी हम लोगों के लिए जितनी भोली थीं, बाहरी लोगों के

लिए वे उतनी ही कठोर भी थीं। बाहर के लोगों के लिए वे पहरेदार, पुलिस, थानेदार, सब कुछ थीं। उनके आदेश के बिना कोई स्कूल के अंदर नहीं आ सकता था। उनका आदेश पाकर आदमी फाटक के पास सिर्फ खड़ा रह सकता था, आगे जाने का नानी का आदेश नहीं था।

कोई आता, नानी घुड़ककर पूछती—

'किससे मिलना है ?'

'रमा बहन जी से !'

'यहीं खड़े रहिये, बुलाते हैं।'

आदमी खड़ा हो जाता।

नानी अंदर जाकर बहन जी को बुला लातीं। व्यक्ति बात करके जाने लगता है, तब नानी आदर से क़हतीं—'भैया, बुरा मत मानना। लड़कियों का स्कूल है। आप तो भले आदमी हैं। कोई खराब आदमी भी आ सकता है। इसी से ध्यान रखना पड़ता है।

खराब आदमी की बात नानी अपने मन से कहतीं। पर व्यक्ति इतना संतुष्ट होता कि नानी के प्रति उसका आदर भाव बढ़े बिना न रहता।

नानी के इसी दबंग स्वभाव के कारण महापालिका के दफ्तर में ले जाने के लिए रजिस्टर वगैरह भी उन्हीं को सौंपे जाते। दफ्तर के क्लर्क उनकी घुड़की से डरते थे। वे अफसर को भी खरी-खोटी सुना सकती थीं।

इससे सारे काम एकदम ठीक-ठाक हो जाते—न कभी कोई गड़बड़ी होती, न देरी।

मनतोरा का—दूसरे के मन में घुली-मिली नानी का जीवन जैसे दूसरे के लिए ही बना था। वैसे उनका अपना एक पंद्रह बरस का लड़का था, पर स्कूल के सभी बच्चे उनके अपने बच्चों जैसे ही थे। वे किसी से जरा भी भेद न मानतीं।

नानी के दुलार-प्यार के साथ मैंने कक्षा एक उत्तीर्ण की, दो उत्तीर्ण की और फिर तीन में आयी। उन्हीं दिनों कक्षा पाँच की लड़कियों के इम्तहान की तैयारी हो रही थी। लड़कियों का एक विषय गृहविज्ञान भी है, जिसमें सिलाई रहती है। सिलाई के लिए लड़कियों को कपड़ा घर से लाना पड़ता है।

पर उषा के पास कपड़ा नहीं था। सारी लड़कियाँ कपड़ा ले आयीं। बहन जी ने कहा, 'जो कपड़ा न लायी हो, वह खड़ी हो जाये।'

उषा खड़ी हो गई।

'क्यों, कल तुमसे कहा गया था न ?'

उषा फफककर रो पड़ी। बहन जी भी कुछ समझ न पायीं। नानी रजिस्टर लेकर बहन जी के पास ही खड़ी थीं। वे सारी बात समझ गयीं।

'अरे तुम रोती हो। लो, हम तुम्हें कपड़ा देते हैं।' नानी ने सबके सामने ही धोती के ऊपर ओढ़ी जाने वाली अपनी बुर्राक चद्दर उतारी और फाड़ कर दो टुकड़े कर दिये। एक टुकड़ा उषा को देते हुए उन्होंने कहा—'लो, अपना इम्तहान दो। दुखी मत होओ।'

पूरी कक्षा नानी को देखती रह गयी। बहन जी से जब नहीं रहा गया, तो कह ही बैठीं—'मनतोरा बहन, तुम्हारी चद्दर....'

बात नानी ने बीच ही में पकड़ ली—'दूसरी बन जायेगी। कपड़ा न होने से तो इस बेचारी का साल ही खराब हो जाता।'

वास्तव में नानी इस बात को जानती थीं कि उषा बिना माँ-बाप की लड़की है। उसे उसकी बहन ने पाला है। बहन-बहनोई की दशा अच्छी नहीं है। फिर बहन से इतनी बड़ी माँग ऊषा कर भी नहीं सकती थी। इसी से वह रो पड़ी थी।

आज एक लम्बे अरसे के बाद नानी घर के फाटक के पास ही मिल गयीं। मैं कालेज में पढ़ाने जा रही थी। वे अब नब्बे पार कर चुकी हैं। पर वे सीधी चल रही थीं। आँखें, दाँत, देह—सब ठीक थे। बस बदला था तो केवल चेहरे का भाव। चेहरे पर जरा-सी उदासी सी थी।

वैसे नब्बे बरस की उम्र बहुत होती है। इसलिए वे धीरे-धीरे चल रही थीं।

मैंने जैसे ही उन्हें देखा, दौड़कर उनका हाथ पकड़ लिया—'नानी !'

वे जैसे चौंक पड़ीं। मुझे पहचान नहीं सकीं। मैंने कहा—'नानी, आपकी वही शैतान मधु हूँ, जिसे आप घर से स्कूल लाती थीं और अपने छोले खिलाती थीं।' अपने पिता का भी मैंने नाम बताया।

'अच्छा, मधु ! अरे तू इतनी बड़ी हो गई।' उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरा। फिर मेरा एक-एक हाथ लेकर चूमा। लगता था, जैसे उन्हें कोई खोई हुई चीज मिल गयी है।

'नानी, ऊपर चलिए घर में। माँ देख कर खुश होंगी।'

वह मेरा आग्रह टाल न सकीं। नानी से मिलने की खुशी में मैंने कालेज देर से जाने का विचार कर लिया। घर में लाते समय मैंने उन्हें बताया कि मैं एम० ए० कर चुकी हूँ और अब डिग्री कालेज में बी० ए० की लड़कियों को पढ़ाती हूँ। यह सुनकर, वे बड़ी खुश हुईं—'मेरी बिटिया कितनी आगे निकल गयी। वाह !'

घर में माँ ने उनका आदर किया, पिता जी ने हाथ जोड़े। माँ के बहुत कहने पर उन्होंने जलपान किया। कुछ मिठाई माँ ने घर ले जाने को भी दी। पर उसमें से उन्होंने दो टुकड़े मिठाई मुझे खिलायी, तब ले जाना स्वीकार किया।

चलते समय नानी के आँखों में आँसू आ गये। मेरी और माँ

की आँखें भी आँसुओं से गीली हो गयीं। माँ मेरे साथ उन्हें फाटक तक पहुँचाने आयीं।

माँ ने विदा करते समय नानी से कहा—'फिर आइएगा।'

'जरूर आऊँगी बहन। अपनी बिटिया से और तुम लोगों से मिलने जरूर आऊँगी।'

मनतोरा नानी चली गयी हैं अब मन में पुरानी यादें गूँज रही हैं—स्कूल की, बचपन की और विशेष रूप से नानी मनतोरा की, जो दूसरे के मन में बस गयी थीं। यही सब सोचते हुए मैं कालेज जा रही हूँ।

इम्तहान
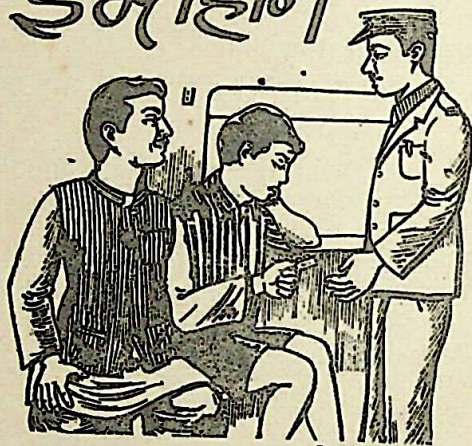
गर्मियों की छुट्टियाँ आ गई थीं। मैंने इत्मीनान की साँस ली।

लेकिन अब खाली घर में बैठे करूँ भी क्या? दिन-भर खाने-पीने के अलावा कोई काम नहीं था। मैंने बाबा से कहा, 'बाबा! इम्तहान के दिनों में आप रोज़ कहते थे कि पढ़ो, मेहनत करो। मैंने आपकी बात मानी। अब आप भी मेरी एक बात मानिए। कहीं घूमने चलिए—घर से दूर।'

'इतनी-सी बात! चलो, सारनाथ पास ही है। कल सुबह ही चलो। सामान अभी तैयार कर लो।'

मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। रात-भर ठीक से नींद भी न आई। सुबह मैंने इतनी जल्दी मचाई कि गाड़ी आने के घंटा भर पहले ही हम स्टेशन पर पहुँच गये।

बाबा को टिकट लाने में काफी समय लगा। इस बीच, मैं स्टेशन पर घूमता रहा।

मैं और मेरे बाबा ! दो जनों के दो टिकट हुए। पर बाबा के पास एक ही टिकट था। मैंने पूछा, 'बाबा, दो टिकट चाहिए न ?'.

बाबा ने कहा, 'तुम बिना टिकट ही चलो। एक टिकट तो है ही। जब टीटी आएगा, तो कह देंगे—टिकट नहीं ले पाए। या कह देंगे—लड़के का टिकट लेना भूल गए। बहुत कहेगा, तो पैसे दे देंगे।'

पहले तो मुझे बड़ा अचरज हुआ। खुशी भी हुई कि चलो, बाबा ने एक टिकट के करीब दो रुपए बचा लिये। पिछली बार जब मैं अपने साथी के साथ गया था, तो हम लोगों ने भी ऐसा ही किया था। न मैंने टिकट लिया था और न मेरे साथी ने। जब टीटी आया तो हम लोग इधर-उधर हो गये थे। उन रुपयों से फिर हमने चाट उड़ाई और आइस्क्रीम खाई।

पर इस गलती के लिए हम बाद में बहुत पछताए थे। हम दोनों ने फिर कभी ऐसा न करने की प्रतिज्ञा भी की थी। पर बाबा ने भी जब ऐसा ही किया, तो अब उस अपने किए का कुछ भी दुख नहीं रहा। जब बड़े-बड़े लोग वैसा करते हैं, तो हमने कौन-सी गलती की ?

जोश में आकर मैंने यह बात बाबा को बता भी दी। बाबा ने सब सुना, पर कहा कुछ नहीं।

तभी शोर मचाती हुई गाड़ी आ गई और हम दोनों उसमें बैठ गए।

गाड़ी में बैठते समय मैं उछला-उछला पड़ रहा था। एक तो गाड़ी में बैठने की खुशी थी। दूसरे, बिना टिकट यात्रा से भी खुशी हो रही थी।

गाड़ी बीस-पच्चीस मील आगे निकल गई थी। तभी टीटी आया। मुझे कुछ घबड़ाहट हुई। मैं खड़ा होने लगा। पर बाबा ने मुझे बैठा दिया।

टीटी सबके टिकट जाँचते हुए बाबा के पास आया। मुझे पसीना आ गया। दिल तेजी से धड़कने लगा। लेकिन यह क्या! बाबा ने तुरन्त दो टिकट निकालकर दे दिए।

मैं आश्चर्य में पड़ गया। बाबा ने तो कहा था कि एक ही टिकट लिया है! फिर ये दो टिकट कैसे हो गए? क्या बाबा मेरा इम्तहान ले रहे थे?

लज्जा से मैंने अपना सिर झुका लिया। अब क्या होगा? मैंने तो अपनी पिछली बार की बिना टिकट-यात्रा की बात भी बता दी थी।

अब मुझे रेल में बैठना बिलकुल अच्छा नहीं लग रहा था। बाहर के हरे-भरे खेतों को देखने में भी आनन्द नहीं आ रहा था। स्टेशन आता था। चहल-पहल होती थी। लोग चढ़ते-उतरते थे। पर मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था।

मुझे लग रहा था बाबा बिगड़ेंगे, झिड़केंगे और सबके सामने मेरी खिल्ली उड़ायेंगे और कहेंगे, 'देखो, यह लड़का आठवें दर्जे में पढ़ता है और इस उम्र से ही गुल खिलाना सीख गया। यह बिना टिकट यात्रा करता है।'

'रवि चाय पी लो!'

मैं एकाएक चौंक पड़ा। बाबा ने दो कुल्हड़ चाय कब ली, मुझे पता ही न चला। एक कुल्हड़ बाबा ने मेरी ओर बढ़ा दिया।

मुझे उदास देखकर वह मुस्करा दिए। शायद मेरे मन की बात समझ रहे थे।

चाय पीने के बाद वह बड़ी शान्ति से बोले, 'मैं यह देखना चाहता था कि टिकट न लेने पर तुम क्या कहते हो। भला मैं जिस काम को न करने के लिए तुमसे कहता हूँ, क्या वही काम मैं खुद करूँगा?'

मैं हाथ में कुल्हड़ पकड़े बैठा था।

बाबा फिर बोले, 'मुझे तुमसे यह उम्मीद न थी कि तुम अपने साथी के साथ विना टिकट यात्रा करोगे। सोचो, क्या ऐसा करना ठीक है? अगर सभी लोग इसी तरह यात्रा करने लगें, तो नुकसान किसका है?'

'बाबा, अब मैं कभी ऐसी गलती न करूँगा।' मेरी आँखों में आँसू आ गए।

बाबा ने हँसकर मेरी पीठ थपथपाई—'ठीक है। ये जानता हूँ कि तुम गलती नहीं करोगे। पर जो गलती कर चुके हो, उसका क्या होगा?'

मैं चुप था।

'उस गलती से भी बच सकते हो। घर चलकर रेलवे विभाग के प्रधान कार्यालय को किराया मनीआर्डर से भेज देना और क्षमा माँगना कि भविष्य में ऐसी गलती कभी न करोगे।

सारनाथ आने वाला था। स्टेशन आते ही गाड़ी की चाल धीमी हो गई। जब गाड़ी बिलकुल रुक गई, तो हम उतर पड़े।

मेरे दिल से जैसे मनों बोझ उतर गया था।

चंचल के कारनामें
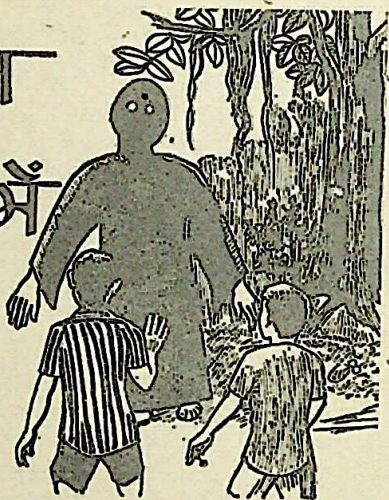
चंचल सचमुच चंचल था। उसके माँ-बाप बताते हैं कि जब चंचल पालने में सुलाने लायक हुआ तब इतने हाथ-पाँव फेंकता था, मानो पालने को ही तोड़ देगा। माएँ बच्चों को हमेशा गोद में नहीं लिए रहतीं। काम करने के समय या थक जाने पर पालने में सुला ही देती हैं। पर चंचल का हाथ-पैर पटकना और रोना देख कर माँ उसे गोद में उठा लेतीं। गोद में उठाते ही चंचल चुप। माँ खीझ जाती। इस तरह चंचल ने अपनी चंचलता बचपन से ही दिखानी शुरू कर दी थी।

जब चंचल कुछ बड़ा हुआ और घुटनों के बल चलने लायक हुआ, तब उसकी चंचलता और बढ़ी। चंचल की बड़ी बहन थी रमा। थी तो सात बरस की, पर चंचल उसकी चोटी खींचा करता। बेचारी रो-रो पड़ती।

दुलार में वह कुछ कहती भी न थी, न उसे रोकती ही थी—

चोटी खींचने का दर्द सहती रहती। आखिर चंचल उसका इक-लौता भाई था।

चंचल बड़ा हुआ, और बड़ा हुआ, फिर चार बरस का हो गया। अपनी उमर के बच्चों से उलझना उसका रोज का काम था। इसमें वह कभी कमजोर भी पड़ जाता और पिट आता। माँ से शिकायत करता तो माँ उसी को डाँटती। वह उसके स्वभाव का जानती थी। पिताजी भी उसे गलत बढ़ावा नहीं देते थे।

चंचल और भी ऐसी ही हरकतें करता। आँगन में कुआँ था। कभी रस्सी कुएँ में डाल देता, कभी कंघा कुएँ में फेंक देता। एक दिन उसने रमा की एक किताब कुएँ में फेंक दी। उस दिन तो चंचल की खूब मरम्मत हुई। अगर रमा चुपके से खाना न खिला देती, तो उसे भूखा भी रहना पड़ता।

देखते-देखते चंचल का एक बरस और बीता। अब वह पाँच का हो गया। उसके स्वभाव के गुण अब साफ मालूम पड़ने लगे। उसकी बुआजी ने उसके रंग-ढंग को देख कर उसे चंचल पुकारना आरम्भ किया। धीरे-धीरे उसका नाम ही चंचल पड़ गया।

जुलाई में जब उसके पिताजी स्कूल में नाम लिखाने गए तो उन्होंने भी उसका यही नाम लिखा दिया, 'चंचलकुमार।' कुमार कौन पुकारता, चंचलकुमार का नाम चंचल हो गया।

इसी को कहते हैं जैसा गुण वैसा नाम। हालांकि स्कूल के संगी साथी नाम की इस कहानी को नहीं जानते थे। वे तो राम, श्याम, हेमन्त की ही तरह इस नाम को भी समझते थे और चंचलकुमार उर्फ चंचल भी अपने नाम की इस कथा को नहीं जानता था।

चंचल बड़ा होता रहा। अपने नाम के अनुसार काम भी करता रहा। किसी की पेटी को धक्का देकर गिरा देता, किसी की दावात उलट देता। पढ़ाई में बहुत योग्य नहीं था, पर पास होता रहा।

लड़के जब उससे खीझ जाते तो उसे चंचलिया भी कह देते। तब वह उन्हें बुरी तरह दौड़ाता।

चंचल में शरारतें थीं, पर किसी को सताने की उसकी खास मंशा नहीं रहती थी। सिर्फ आदत के कारण ही वह हरकतें करता था। फुर्ती उसमें गजब की थी। पेड़ पर वह ऐसे चढ़ता जैसे बंदर चढ़ता है। फिर डाल-डाल पर बन्दर की ही तरह भगता और सबसे ऊँची तथा पतली डाल पर पहुँच जाता। दूसरे लड़के उसको देख कर दंग रह जाते। वे उससे नीचे उतरने की प्रार्थना करने लगते। तब वह सरसरसर उतरता और कोई पतली डाल पकड़ कर कूद पड़ता। चोट नाम को भी न लगती। फुर्तीला होने के कारण भागता भी वह बहुत तेज था। हमेशा सबसे आगे रहता। हालाँकि पेड़ पर चढ़ने में एक बार गिर जाने के कारण उसका बायाँ हाथ भी टूट गया था और ठीक होने पर टेढ़ा भी हो गया था, पर इसी बाएँ हाथ से वह सबसे आगे ढेला भी फेंकता था।

चंचल के गाँव का नाम था मड़वापुरा। इसी के पास दूसरा गाँव था सांईपुर। इन दोनों गाँवों के दो जमींदार थे दीवान तेज-बहादुर सिंह और विक्रम सिंह। कहने को जमींदारी खतम हो गई थी, लेकिन दोनों के अत्याचार कम नहीं हुए थे। लोगों से बेगार लेना, गरीबों को बेइज्जत करना, काम करा कर बहुत कम पैसा देना या न ही देना—यही इनका रवैया था।

दोनों गाँवों के लोग इन दोनों अत्याचारियों से डरते थे। चंचल भी अपने गाँव के पुराने जमींदार दीवान तेजबहादुर सिंह के किस्से सुन-सुन कर जान चुका था। उसे दीवान बिलकुल पसंद न आता था। अपने साथ के लड़कों से अक्सर कहा करता—'तेज-बहादुर बहुत बुरे आदमी हैं। लोगों को हैरान करते हैं। मजदूरों को काम करा कर मजदूरी नहीं देते।'

और एक दिन उसने अपनी आँखों से अत्याचार देखा। दीवान,

तेजबहादुर सिंह ने एक काछी को कोठी पर पानी भरने के लिए बुलवाया। उसके यहाँ मेहमान आए हुए थे। इसलिए वह नहीं आया। जब दीवान के हरकारे ने नमक-मिर्च मिला कर खबर दी तब वे आग बबूला हो गए और दो नौकरों को बुला कर उस काछी को पकड़ लाने का हुक्म दिया।

नौकर उसको पकड़ कर ले आए। आते ही दीवान ने पचासों आदमियों के सामने काछी को कोड़े मार-मार कर उसकी चमड़ी उधेड़ दी। बची-खुची कसर दो नौकरों ने निकाली।

इस अत्याचारी दृश्य को देखने वालों में चंचल भी था। काछी पर कोड़े पड़ते देख कर उसकी आँखों में आँसू आ गए वह इस दृश्य को सहन न कर सका और रोता हुआ घर भाग गया।

उसने सब कुछ अपनी माँ और पिताजी को बताया ! पर वे तो यह सब पहले से जानते थे। चंचल के दिमाग में यह घटना बैठ गई। दूसरे दिन उसने छुट्टी में घर लौटते समय अपने पक्के दोस्त रमेश के साथ एक योजना बनाई।

तीसरे दिन जमींदार की कोठी के आँगन में चार हड्डियाँ पाई गईं। दो हड्डियों के साथ कागज बँधे थे, जिन पर लिखा था—

'पिछवारे के थान के सैयद।' फिर आड़ी-तिरछी लकीरें थीं। इसके आगे था—'दीवान, तुम बड़े अत्याचारी हो। तुमने बेकसूर काछी को मारा। गाँव के लोग तुमसे दु:खी हैं। अगर तुमने अत्याचार करना बंद न किया तो...'

कोठी के पिछवाड़े सचमुच सैयद का थान था। दीवान डर गया। उसने पण्डित को बुलवाया। कथा हुई। ब्राह्मणों को भोजन कराया गया और दक्षिणा भी दी गई। पण्डितजी की राय से काछी का भी आदर-सत्कार किया गया। दीवान ने एकान्त में उससे माफी भी माँगी।

दीवान तेजबहादुर सिंह ने गाँव वालों को सताना छोड़ दिया।

उन्हें लगा जैसे पिछवारे के सैयद बहुत नाराज हैं। अब तक सैयद ने उसके अत्याचार सहे, अब उन्हें जीवित न छोड़ेंगे।

पड़ोसी विक्रम सिंह तो वैसे ही ड़रपोक था। यह खबर लगते ही वह दौड़ा आया और सब बातें जान कर उसने भी तय कर लिया कि अब अत्याचार नहीं करूँगा। कहीं किसी गरीब की हाय न लग जाए।

दोनों आदमियों के अन्याय बन्द हो जाने से गाँव वालों को बड़ा आराम मिला। पर इसका असली रहस्य तो चंचल और रमेश ही जानते थे। उन्होंने योजना बना कर आधी रात को पर्चे बाँध कर हड्डियाँ फेंकी थीं और भाग कर घर आ गये थे।

चंचल ने दूसरा काम किया गाँव के भूत को सुधारने का। गाँव से नौगवाँ आने के रास्ते में अक्सर अँधेरा होने पर लोग भय खा जाते। उन्हें काला भुजंग भूत मिलता। लोगों की घिग्घी बँध जाती और तब बरगद की खूब पूजा होती। भूत के लिए बरगद पर पूड़ी-पकवान रखे जाते।

लोगों ने उस रास्ते से आना-जाना बहुत कम कर दिया था। पर चंचल हिम्मत करके रमेश के साथ अँधेरा होने पर वहाँ गया। चाँदनी रात थी। काला भूत दोनों हाथ फैलाए पेड़ की आड़ से आया। चंचल ने अपने दादा से सुना था कि भूत की छाया नहीं होती और उसके पैर उलटे होते हैं। पर इस भूत की छाया भी थी और पैर ठीक थे। वह सारी बात समझ गया। भूत उसकी ओर आता गया। वह रमेश के साथ वहाँ खड़ा रहा। भूत जरा ठिठका। फिर उनकी ओर बढ़ा। तब तक चंचल ने दौड़ कर उसके कपड़े पकड़ लिए। रमेश उसके पैरों से लिपट गया। दोनों लड़के चिल्लाने लगे—'बचाओ, बचाओ, बचाओ।'

गाँव वाले लाठियाँ लेकर दौड़े। उन्होंने जो दृश्य देखा, उससे

उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भूत से जाकर लिपट गए। भूत रो-रो कर सब के पैर छू रहा था और माफी माँग रहा था।

जब भूत को गाँव में लाया गया तो सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए। छह महीने पहले रमल्ला गाँव से गायब हुआ था। सब कहते थे कि वह साधू हो गया है। उसी ने बरगद पर भूत होने का प्रचार किया था, और फिर भूत बन कर मुफ्त का माल खाने लगा था।

गाँव के लोगों ने उसकी अच्छी पिटाई की। दूसरे दिन से हमेशा के लिए भूत गायब हो गया। मारे डर के रमल्ला तो गाँव ही छोड़ कर कहीं चला गया।

और चंचल का गाँव में आदर बढ़ गया। रमेश को भी आदर मिला।

चंचल की पुरानी शरारतें याद करके लोग हँसते हैं। चचल शरारतें अब भी करता है, पर अब उसकी शरारतों का लोग बुरा नहीं मानते।